बलिवैश्वदेव-यज्ञ

लेखक

हरिशरण श्रीवास्तव्य 'मराल'

तथा

शिवदयालु

श्रीमद्दयानन्द जन्म-शताब्दि-संस्करण

ओ३म्

बलिवैश्वदेव-यज्ञ

की

वैदिक-व्याख्या

रचयिता

हरिशरण श्रीवास्तव्य 'मराल'
(बी० ए० एल-एल० बी० वकील)
और
शिवदयालु

प्रकाशक
आर्य्य-संघ, मेरठ सहर ।

विक्रम सम्वत् १९८१

दयानन्दाब्द ४१

प्रथम बार १०००] [मूल्य ॥=) आने

मुद्रक—
साहित्य मुद्रणालय,
मेरठ.

प्रकाशक—
शिवदयालु;
आर्य्य संघ
मेरठ सदर (यू० पी०)

आर्य्य-संघ पुस्तक-माला का द्वितीय-पुष्प

* ओ३म् *

सनातन-वैदिक-धर्मावलम्बियों का एक आन्हिक-कर्म्म

बलिवैश्व-देव-यज्ञ

अर्थात्

(सार्वलौकिक उन्नति का एक उत्तम उपाय)

कुर्व्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

यजु० ४०-२।

इस लोक में उत्तम कर्म करते हुये ही शत वर्ष पर्यन्त जीवित रहने की इच्छा करो। यही तुम्हारे लिये एक मार्ग है, अन्य कोई नहीं। कर्त्तव्य कर्म करने से मनुष्य दोषी नहीं होता।

—यजुर्वेद।

आयुर्यज्ञाय धत्तम॥ तै० ब्रा० १।१।१।३॥
यज्ञ अर्थात् सत्कर्म्म करने के लिये ही अपनी आयु धारण करो।

रचयिता—

हरिशरण 'मराल'

तथा

शिवदयालु

ला० विश्वम्भर सहाय 'प्रेमी' के प्रबन्ध से साहित्य मुद्रणालय मेरठ, में मुद्रित।

ओ३म्

मह उग्राय तवसे सुवृक्तिं प्रेरय शिवतमाय।

ऋग्वेद ८-९६-१०।

"उत्तम कल्याण के लिये, बल के लिये, क्षात्र-तेज के लिये, तथा महत्व के लिये शुभ-कर्म की प्रेरणा करो।" ऋग्वेद।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
त्वमग्ने यज्ञानाँ होता विश्वेषाम्।

साम० पूर्वार्चिके प्र० १। अर्ध प्र० १। मं० २

"हे पूजनीयेश्वर तू छोटे बड़े सब यज्ञों का उपदेष्टा है।"

सामवेद।

स्वर्यन्तो नाऽपेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।

यज्ञं ये विश्वतो-धारं सु विद्वांसो वितेनिरे॥

अथर्व० ४-१४-४।

"जो उत्तम विद्वान् सब प्रकार से धारण-पोषण करने वाले सत्कर्मों को विशेष प्रकार से फैलाते हैं, वह दोनों लोकों में से ऊपर होते हुये स्वर्ग पर चढ़ते हैं, और अपने तेज को फैलाते हुये किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं करते।" अथर्ववेद।

मनो वाक्काय कर्माणि मे शुध्यन्ताम्।

तैत्ति० आ० १०-६६।

"मेरे मन, वाणी और शरीर से सब पवित्र ही कर्म होते रहें।"

ज्ञान के आदिस्रोत

को

समर्पण ।

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥

ऋग्वेद ८-९८-११ ।

"हे सहस्रों सत्कृत्य करने वाले, सब को बसाने वाले, ईश्वर! निश्चय से आप हम सब के पिता हैं, और आप ही माता हैं । अतः हम सब उत्तम कल्याण के लिये आपकी प्रार्थना करते हैं तथा आप से उत्तम विचार प्राप्त करते हैं।"

परम-पावन, प्रतिभा-परिपूर्ण, पूज्य-पिता! महा-महिमा-मयी माता! आप ही अनन्त ज्ञान के भण्डार हैं । आप ही से मनुष्य सम्पूर्ण प्रज्ञानों की प्राप्ति करते हैं ।

हम सब उत्तम कर्म आपको ही समर्पण करते हैं । यह कृति भी आपकी सर्व-सुख-समन्विता सेवा में सादर समर्पित है ।

* ओ३म् *

कृतज्ञता प्रकाश ।

हम पूज्यपाद श्री नारायण स्वामी जी महाराज के विशेष कृतज्ञ हैं कि जिन्होंने इस पुस्तक को अवकाश न मिलने पर भी आद्योपान्त अवलोकन किया और निज सम्मति द्वारा उभय नव-युवकों को प्रोत्साहित कर कृतार्थ किया। आप आर्य्य-जगत् के एक प्रसिद्ध संन्यासी हैं।

हम अपने सुयोग्य मित्र पं० गयाप्रसाद वाजपेयी जी को भी धन्यवाद देते हैं कि जिनके कठिन परिश्रम द्वारा आज यह पुस्तक इस रूप में पाठकों के कर-कमलों में उपस्थित है। वाजपेयी जी ने प्रूफ़ शोधनादि का कार्य्य प्रेस टाइम में ही नहीं किन्तु रात्रि को घर पर भी किया। इस पुस्तक के लिये इतनी शीघ्रता या चिन्ता हमको नहीं थी जितनी वाजपेयी जी को।

विशेष क्या वाजपेयी जी का परिश्रम सराहनीय है और हम उनको इसके लिये हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

मेरठ
१-८-२४

लेखक:—हरिशरण 'मराल'
शिवदयालु

पूज्य श्री० नारायण स्वामी जी महाराज की

सम्मति

बलिवैश्वदेव-यज्ञ संबन्धी इस निबन्ध को मैंने पढ़ा—यज्ञ का भाव प्रकट करने और यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्र और प्रतीकों के अर्थों को स्पष्ट करने का यत्न सफलता के साथ किया गया प्रतीत होता है।

व्याख्यान-विशेष में वर्णित अनेक उपयोगी बातें हैं जिनसे निबन्ध की उपयोगिता बढ़ गई है—निबन्ध-कर्त्ताओं का परिश्रम सराहनीय है।

८—२—२४. **नारायण स्वामी।**

विषय-सूची।

भूमिका

प्रश्न उपस्थित होता है कि 'सार्वलौकिक उन्नति के उत्तम उपाय' अर्थात् 'बलिवैश्वदेव यज्ञ' की 'भूमिः का' ? अर्थात् आधार क्या है ?

किसी को स्वीकृत हो या न हो किन्तु इस स्थूल सत्य को छिपाया नहीं जा सकता कि प्रत्येक व्यक्ति-गत अथवा समष्टि-गत, ऐहिक अथवा पारलौकिक उन्नति का बोधक तथा साधक सच्चिदानन्द विश्वात्मा का मानव-जाति के प्रति महतोमहीयान् दान सम्पूर्ण वेद ज्ञान ही प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से है।

सर्वतोगामिनी पतितपावनी वेदपीयूषधारा का प्रवाह अनवच्छिन्न है। कोई मज्जन करे, न करे। कर्म सम्बन्ध में मानवीय स्वतन्त्रता का अपहरण किया जाना न्यायकारी प्रभु को कथञ्चित् अभीष्ट नहीं।

वैदिक-सिद्धान्तों की सत्यता जिस प्रकार अब से करोड़ों वर्ष पूर्व अटल थी उसही प्रकार आज भी है और निस्सन्देह भविष्य में भी रहेगी। मानव-जाति का जितना अङ्ग इस वेद-पीयूषगङ्गा में अवगाहन करेगा उतना ही तेजोमय और दीप्ति-मान् हो असीम, अचिन्त्य आनन्द का भागी होगा।

जिस समय इस अनवच्छिन्न वेद-पीयूष-धारा का वेग अल्पज्ञ जीवों के पाप-पुञ्ज-पर्वत के निकट मन्द पड़ने लगता है उस समय, मनुष्य बुद्धि से अगम्य ईश-नियम के अनुकूल आप्त धर्मोपदेशक संसार में अवतरित हो पाप-पुञ्ज-पर्वत को विच्छिन्न कर प्रवाह को पूर्ववत् गतिमय बना देते हैं।

किन्तु यह आत्माएँ कालान्तरिक्ष में दामिनी समान तिरोहित हो जाती हैं। मानव-जाति के पाप मानव-जाति को भोगने होंगे। न्यायकारी जगदीश के राज्य में कोई पापी पुण्य का भागी नहीं हो सकता, हां! यदि पापात्मा की अज्ञान-यवनिका का उत्थान हो तो वही पापभोग उसके उज्ज्वल भविष्य के निर्माण में सहायक होता है। और निस्सन्देह उस अनतिदूर भविष्य की दिव्य-आत्मा के अन्तःकरण में उस महान् दयालु न्यायकारी प्रभु के प्रति कृतज्ञता का प्रकाश होता है।

सज्जनों! इस यज्ञ की परिचायक सहयोगी लेखक की अवतरणिका प्रस्तुत ही है अतः मैं अधिक कुछ न लिख अन्तिम निवेदन करता हूँ कि इस ग्रन्थ की आधार-शिला अर्थात् भूमि ईश्वरीय-ज्ञान अर्थात् स्वतः प्रमाण वेद तथा परतः प्रमाण आप्त पुरुषों के वचन निर्वचन ही हैं।

ऋषिबोध तिथि सम्वत्
१९८० वैशाख

शिवदयालु

* ओ३म् *

॥ अवतरणिका ॥

तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

अथर्वे० काण्ड १० अनु० ४ सू० ८ म० १

जो सब से महान् तथा सर्वसामर्थ्ययुक्त परमात्मा है उसे अत्यन्त प्रेम से हमारा नमस्कार हो।

—वेद भगवान्।

सच पूछिये तो आर्य्य-जाति के प्राण वेद ही हैं। ईश्वरीय ज्ञान के तो वह भण्डार ही हैं। संसार की समस्त विद्याओं का विकास वेद ही से हुआ है। आर्य्य-जाति के सच्चे धर्म, कर्म, तथा उत्कर्ष-मर्म का ज्ञान प्राप्त करने के हेतु वेदों का स्वाध्याय अनिवार्य्य है। भारत यश-चन्द्र की पुण्य-मयी पूर्व-प्रभा के उद्भव-स्थान की यदि खोज करनी हो तो वैदिक-विज्ञान-सागर में प्रवेश करना नितान्त आवश्यक है। सत्ज्ञान-भानु से अविद्यान्धकाराटोप का अपहरण करके संसार को मङ्गल-मूल मुक्तिपथ के प्रदर्शक वेद ही हैं।

वेद चार काण्डों में विभक्त हैं *। उसी काण्ड—चतुष्टय में कर्म्म-काण्ड भी एक है। सत्य, तथा विशिष्ट ज्ञान-मूलक होने से कर्म्म-काण्ड का विषय अति गम्भीर है। केवल उत्तम

---

* (१) ज्ञान (२) कर्म (३) उपासना (४) विज्ञान ये ही वेदों के ४ काण्ड हैं, कई आचार्य ज्ञान तथा विज्ञान को सम्मिलित करके केवल तीन ही काण्ड मानते हैं॥

कर्त्तव्य-कर्म्मों का सम्पादन ही वेद-विहित है। शुभ-कर्म का वैदिक पर्य्याय-वाची शब्द "यज्ञ" है। यज्ञ के करने का वेदों में बड़ा महत्त्व है। यजुर्वेद अधिकतर यज्ञ (सर्वोत्तम कर्म्मों) के वर्णन से ही परिपूर्ण है। यज्ञ के करने से ही सब सद्गुण, सु-विचार, तथा सद्ज्ञान की प्राप्ति होती है।

यज्ञ इन्द्रमवर्धयत् ॥

ऋग्वेद ८-१४-५ अथर्व २०-२७-५

"यज्ञ अर्थात् सत्कर्म्म के करने से ही ऐश्वर्य्य की वृद्धि होती है" यही वेद का अमृतमय उपदेश है। "यज्ञं तपः" (तैत्ति० आ० १०-८-१) यज्ञ एक प्रकार का तप ही है। अतः यज्ञ का करना प्रत्येक का धर्म्म है।

गृहस्थ के लिये दिवे दिवे पञ्चमहायज्ञों का विधान है। जिनके विधि-पूर्वक करने से मनुष्य वास्तव में मनुष्य बन जाता है। ब्रह्मयज्ञ (सन्ध्या), देवयज्ञ (अग्निहोत्र) और पितृयज्ञ के पश्चात् भोजन करने समय 'बलिवैश्वदेवयज्ञ' के करने का आदेश है। पर-ब्रह्म, ज्ञानी, विद्वान, देवगण (दिव्य गुण युक्त भौतिक पदार्थ), तथा सर्व प्राणीमात्र के प्रति प्रत्येक पुरुष का क्या कर्त्तव्य है यही दर्शाना इस यज्ञ का अभिप्राय है। प्रस्तुत पुस्तक में इसी यज्ञ की व्याख्या है।

बलिवैश्वदेवयज्ञ सब प्राणीमात्र के प्रति दया तथा प्रेम का आचरण करते हुये परोपकार की शिक्षा देता है।

मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः ॥

यजु० १२-३२

"निज शरीर से किसी प्राणी को कष्ट न दो" इस वैदिक उपदेश का पूर्णतया प्रतिपादक यह यज्ञ है। परन्तु इस अहिंसा का तात्पर्य आत्म-गौरव को विस्मृत करके अपने को कर्म हीन, दीन, तथा बलहीन बना लेना कदापि नहीं है। आततायी, अन्यायी तथा अत्याचारी के कुत्सित-कार्य्य-कलाप के प्रति, उन्हें उचित दण्ड न देते हुये, निर्पेक्षित होना इस अहिंसा का उद्देश्य नहीं। उनका प्रतिबन्ध करके यथा योग्य दण्ड देना ही उनके साथ दया किंवा अहिंसा का व्यवहार है। भारतवर्ष की अवनति का एक प्रधान कारण "अहिंसा परमो धर्मः" के इस सत्यार्थ को त्याग अन्य अनर्थों का ग्रहण ही था।

अहिंसा के अतिरिक्त राष्ट्र अथवा राज-धर्म का भी यह यज्ञ शिक्षक है। वेद में कहा है:—

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयो भुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥

ऋग्वेद १-१३-९।

"मातृ-भाषा, मातृ-सभ्यता और मातृ-भूमि ये तीनों देवियां कल्याण करने वाली हैं। ये तीनों देवियां सदा लोकों के अन्तः-करण में स्थिर रहें।" "अन्तः करण में स्थिर रहें" इसका तात्पर्य ये ही है कि मनुष्य को इन तीनों की श्रीवृद्धि करनी योग्य है जो कि राष्ट्र की उन्नति पर निर्भर है। यदि राष्ट्र समुन्नत हो तो इनकी भी उन्नति स्वयमेव हो जायगी। परन्तु किसी राष्ट्र की उन्नति उसके सदस्यों के तत्प्रति कर्त्तव्य पालन

पर ही अवलम्बित है। किसी राष्ट्र के प्रत्येक अङ्ग के समुचित उन्नत होने पर ही वह राष्ट्र सर्वात्मना उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो जाता है, इस में लेशमात्र संदेह नहीं। किन्तु इस हेतु प्रत्येक को स्वराष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होना आवश्यक है जो कि इस यज्ञ के भावों को हृदयाङ्कित करने से भली भांति उपलब्ध हो सकता है। बलि निकालने के मन्त्रों के अर्थों में राज्य, राजा, तथा अन्य कर्मचारी गणों के प्रति नागरिक के क्या २ कर्त्तव्य हैं इसका सम्पूर्णतया समावेश सूत्र रूप में है। भोजन के समय प्रति दिन इस यज्ञ द्वारा उस कर्त्तव्य का स्मरण कराना भी बलिवैश्वदेव का एक उद्देश्य है।

अन्न, भोजन, तथा धन के दान से क्या २ लाभ होते हैं इसका भी यह यज्ञ प्रकाशक है। वेद में स्पष्ट आज्ञा है कि:—

"मनो दानाय चोदयन्"

ऋग्वेद ८-९९-४। अथर्व० २०-५८-२॥

"मन दान के लिये प्रेरित करो"। दान की महिमा का गान तो सर्वत्र विराजमान है। परन्तु वर्त्तमान काल में उचित अनुचित के ध्यान के विद्यमान न होने के कारण वही दान हमारे अभ्युदय-अवसान का निदान है। यथा योग्य रीति से सत्पात्र को दिया हुवा दान ही सुफल प्रदान करता है। वेद में कहा है:—

अनर्शरातिं वसुदामुपस्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः।

ऋग्वेद ८-९९-४॥ अथर्व० २०-५८-२॥

"जो हानिकारक दान नहीं करता, उस धन दाता की स्तुति करो, इन्द्र-परमात्मा के दान कल्याण-कारक हैं"। केवल लाभकारी दान का ही इस प्रकार विधान वेदों में है। भूतयज्ञ में भी क्षुद्र कीट, कृमि, जीव, जन्तु और रोगी, पतित, तथा चाण्डाल को अन्न दान देने का आदेश है। इसी प्रकार लोकोपकार में भी धन के सद्व्यय करने की आज्ञा है।

यह संक्षेप में यज्ञ के उपकारों का दिग्दर्शन है। इसके अतिरिक्त अन्य महत् उद्देश्यों का साधक भी यह यज्ञ है। ईश्वर की उपासना तथा उसके गुणों के चिन्तन से क्या लाभ होता है? प्रकृति के दिव्य-पदार्थों को शुद्ध तथा साम्यावस्था में रखना ही सब मनुष्यों को हितकर क्यों है? प्राणिमात्र के प्रति दयालुता का व्यवहार करते हुये उनको अन्न और धन दान देने से मनुष्य का क्या कल्याण होता है? स्वार्थ त्याग, सत्यनिष्ठा पूर्वक मिष्ट-भाषण, परोपकार, सर्वस्व का दूसरों के हित के लिये अर्पण, तथा हवन और वेद वाणी के आश्रय से प्रत्येक को किस किस सुख की सिद्धि होती है और इनकी किस २ सद्गुण प्राप्ति के निमित्त आवश्यकता है इन सब प्रश्नों का उत्तम उत्तर प्रदान करता हुआ, समाधान-कर्त्ता यह यज्ञ है।

भारत-वर्ष में जिस समय यज्ञों की प्रधानता थी उसी समय यहां सुख का साम्राज्य था। सर्वत्र शान्ति विराजती थी। ईश्वर में सब की अटल भक्ति, श्रद्धा और विश्वास था। उसकी आज्ञानुकूल सभी वेद-विहित सत्पथ के पान्थ थे। वेद भगवान

कहते हैं:—

"सो अस्य कामं विधतो न रोषति।"

"जो उस ईश्वर की इच्छा के अनुसार कार्य करता है उसपर वह रोष नहीं करता"। इस भांति जब सब मनुष्य निज कर्त्तव्य पालन में तत्पर थे तो फिर परमात्मा की कृपा से उन्हें आनन्द क्यों न मिलता। परन्तु सर्वदा एक सी अवस्था नहीं रहती। कवि कहता है "सबै दिन जात न एक समान"। काल चक्र फिरा धार्म्मिक-मर्यादा शिथिल हुई, पुरुषार्थ को भूल कर मनुष्य आलस्य-रत हुवे। कर्म्म हीनता के आते ही अवस्था शोचनीय हो गई:—

कभी यही भारत स्वर्ग धाम था;
अपूर्वता थी हर बात में यहां।
परन्तु है आज स्वदेश की दशा,
निकृष्ट सन्ताप-मयी, व्यथामयी॥

दशा बदली, सभ्यता ने करवट ली, कुछका कुछ होगया। परम पिता की पूजा को विस्मृत करके, कल्पित अनेक देवताओं की पूजा, मनुष्य-पूजा, पाषाण पूजा कहां तक कहें, वृक्ष, तड़ाग, कूप, नदी, और भूत-प्रेत आदि की पूजा प्रारम्भ हुई। ज्यों ही यह गति हुई त्योंही दुर्दैव ने दुन्दभी बजाई। ऐश्वर्य पलायित हुवा। सर्वनाश ने आकर अड्डा जमाया, क्योंकि वेद में कहा है:—

"यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः॥"

यजुर्वेद

"जगदीश्वर का आश्रय ही अमृत अर्थात् मोक्ष सुख दायक है और उसका न मानना तथा भक्ति न करना ही मृत्यु है"। जगन्नियन्ता को भूल बैठे। फिर सुख कहां ? उससे भी हाथ धो बैठे। वेदान्तर-गत आई हुई यह प्रतिज्ञा:—

तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः

"अपनी आयु की समाप्ति तक अपने शरीर से विद्वानों का हित करेंगे" विस्मृति-पथ में विलीन होगई। पूज्यों की पूजा लोप हुई, अपूज्यों का मान होने लगा। परिणाम प्रत्यक्ष था:—

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्य-पूजा व्यतिक्रमः।
तत्र त्रीणि प्रवर्तन्ते दुर्भिक्षं, मरणं, भयम्॥

दुर्भिक्ष भय और मरण ने घेर लिया, भाई भाई का शत्रु बना। वैर का विष-वृक्ष भारत वासियों की मानस-मरु भूमि पर पल्लवित तथा कुसुमित होने लगा। फिर नाश में क्या विलंब था, सुमति का राज्य हटा कुमति आन विराजी।

सुबुद्धि देवी, सुख-शान्ति-दायिनी;
विशुद्धता से करती प्रकाश थी।
विराजती है पर आज तो यहां;
विमूढ़ता, उन्मदता, पिशाचिनी॥
सुधा यथा थी प्रिय एकता हमें;
बँधे हुये थे सब एक सूत्र में।
परन्तु फैला अब है अहो! यहां;
विनाशकारी विष वैर फूट का॥

सद्गुण क्रमशः अन्तर्हित होने लगे। दुर्गुणों का प्रसार हुआ फिर क्या शेष था:—

विवेक ने, उद्यम ने, विचार ने,
हमें दिया है अब त्याग सर्वथा।
हितैषणा को, बल को, स्वधर्म को,
बिना विचारे हम ने किया विदा॥ *

गुणहीन होते ही हीन हो गये। सत्य ही है "मान होत है गुणन ते, बिन गुन मान न होय"। आक्रमण-कारियों द्वारा पद-दलित किये जाने लगे। हमारे ही हम पर हँसने लगे, क्योंकि बिना गुण के संसार में आदर नहीं होता।

प्रसून यों ही न मिलिन्द वृन्द को,
विमोहता औ करता प्रलुब्ध है।
वरञ्च उसका प्यारा सुगन्ध ही,
उसे बनाता बहु प्रीति-पात्र है॥

(प्रिय-प्रवास)

काले तो थे ही तिसपर विधि की विडम्बना देखिये चरित्र के भी काले बन गये। तमोमयी निशा कृष्ण-मेघ-माला के संसर्ग से और भी अन्धकारावृत हुई। "एक तो गिलोय दूजे नीम चढ़ी" की लोकोक्ति चरितार्थ हुई। पाप के पारस बन गये। विनाश दावा से हमारा सुख-समृद्धि-शाली विशाल उपवन विदग्ध होने

---

* यह ऊपर लिखे हुये चारों पद्य "सरस्वती" मासिक पत्रिका में प्रकाशित बाबू मोतीलाल बी. ए. द्वारा रचित "हमारी हीनता" नामक कविता से उद्धृत किये गये हैं।

लगा। सु-अवसर की बाट जोहने वाले विदेशियों ने हमें निर-वलम्ब जान स्वार्थ-सिद्धि करते हुये और भी गति हीन कर दिया। दास बनने लगे, कुली हुये प्रत्येक की ठोकर खाने लगे। उदर-देव की अर्चा की चर्चा सर्वत्र व्याप्त हुई। अन्न प्राप्ति के लिये हाहाकार मच गया। पहले जो कुछ प्रतिष्ठा थी गुणों के कारण ही थी—सत्य है:—"गुणाः पूजा स्थानं"।

स्वरूप होता जिसका न भव्य है।
न बैन होते जिसके मनोज्ञ हैं॥
अतीव प्यारा बनता सदैव है।
मनुष्य सो भी गुण के प्रभाव से॥

(प्रिय-प्रवास)

परन्तु हम रुचिर गुण-गण-माला को तो पहले से ही तिलाञ्जलि दे चुके थे। अवगुण के अशेषागार बनगये, विषयासक्ति पाप की पराकाष्ठा पर पहुँची। स्वावलम्बन का सम्पूर्णतया स्वाहा कर दिया। परमुखापेक्षी बन गये। पुरुषार्थ को परे ढकेला। सारांश यह कि परतन्त्रता के बली-बन्धन में बाँधे गये। ऐसे फँसे कि अब छुटाने की चेष्टा करने पर भी नहीं छूटते। अन्ततः क्या हाथ आया? दुःख, दैन्य और दारिद्र्य। स्वाधीन से हीन तथा पराधीन हुये।

पाठक! बस यही अपने अधःपतन का इतिहास और प्राचीन के ह्रास से अर्वाचीन का विकास है।

हमारा पतन हुआ त्योंही दूसरे उठने लगे। हम जब आलस्य तथा प्रमाद की शय्या पर सोये तो अन्य सचेत हुये। हमारा सौभाग्य-सूर्य्यास्त हुवा। इतस्ततः छोटे २ चन्द्र तथा नक्षत्र अपनी क्षुद्र ज्योति से भूमण्डल को प्रकाशित करने की चेष्टा करने लगे हमने जो स्वकीय सुख, समृद्धि के साज और ऐश्वर्य की सामग्री पर अनवधानता से पाद प्रहार किया परन्तु औरों ने उसे अपनाना प्रारम्भ किया। हमारी भूल से अन्यों ने लाभ उठाया।

जब यह विपरीत गति थी तब वेदों की कौन कहे मातृभाषा का पठन भी एक जटिल-समस्या थी। किन्तु अब कुछ चेत हुवा है। प्रातः समीर चली है। कुटिल काल का भूत सिर से उतरा है। तब भी कुछ डरते हैं, भयभीत से हैं, कुछ सकुचाये हैं। काहे से ? अपनों को अपनाने से। बहुत से तो चरम सीमा पर पहुँचते हैं। कहते हैं, "हमारा कुछ नहीं, वह हमारे हैं ही नहीं हमें उनसे क्या सम्पर्क ?" शेष अपने प्राचीन कोष को सँभालने में लगे हैं। परन्तु सहस्रों वर्षों के प्रमाद से नष्ट भ्रष्ट हुई सामग्री कहीं फिर पूर्णरूपेण मिला करती है। हम असावधान थे तब दूसरे सावधान थे। हमारे तत्काल-सुलभ सञ्चय में से जो कुछ उपयोगी मिला वह ही उन्हों ने हस्त-गत किया। शेष में कुछ तो विनष्ट हुवा और कुछ हमारी उपेक्षा के कारण काल के कीटाणु भक्षण कर गये। परन्तु, जो कुछ अब बचा है वह ही बहुत है। अतः प्रयत्न करो और उस

ज्ञान-निधि को अपनाओ। वृथा इधर उधर न भटको। वेद ज्ञान की शरण लो निश्चय वही फिर हो जाओगे जोकि पूर्व में थे। बस सोचलो कि:—

जो सर्व-गुण-सम्पन्न एवं सर्व-शक्ति-निधान हैं।
हम भी नहीं क्या बस उसी सर्वेश की सन्तान हैं॥
संसार में अप्राप्य हमको कौन उच्च-स्थान है।
देवत्व भी दुर्लभ नहीं हमको महा-मुद-खान है॥*

पुरुषार्थ से सब कुछ सुलभ है। ईश्वर-भक्ति ही सब सुखों की साधिका है। अतः आओ हम सब मिलकर यत्न करते हुये उस वरदायक विश्वेश से एकस्वर में प्रार्थना करें कि "हे भगवन्!

"विश्वानि दुरितानि परासुव। यद्भद्रन्तन्न आसुव"॥

अब इस पुस्तक की रचना के विषय में कुछ निवेदन है। बलिवैश्वदेव यज्ञ पर बहुत सज्जनों की अनेक शङ्काएँ होती हैं। इन्हीं शङ्काओं को कई बार श्रवण करके इस पर एक निबन्ध लिखने का सद्विचार मेरे प्रिय मित्र शिवदयालु जी के हृद्धाम में अंकुरित हुवा। उसी सद्भाव से प्रेरित होकर उन्होंने मुझ से भी इस विषय पर एक निबन्ध लिखने का अनुरोध किया। कालान्तर में वे दोनों निबन्ध आर्य्य समाज सदर मेरठ के साप्ताहिक अधिवेशनों पर क्रमशः पढ़े गये। मेरे निबन्ध का परिमाण अवतरणिका, मन्त्रार्थ तथा विशेष-व्याख्या इत्यादि के

---

* सरस्वती से श्रीयुत गोपाल शरण सिंह की 'आत्म विश्वास' नामक कविता से उद्धृत—

सम्मिलित होने के कारण साधारण प्रबन्ध से अधिक बढ़ गया था। अतः दोनों को पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का विचार हुआ। इस प्रकार उन्हीं दोनों निबन्धों का सम्मिलित तथा संवर्द्धित स्वरूप ही इस पुस्तक का रूप है।

दो नवयुवकों का वैदिक-विज्ञान की गम्भीर गुहाओं में प्रवेश करने का साहस यद्यपि उपहासास्पद है, परन्तु यथाशक्ति स्वकीय विचार प्रकट करने का अधिकार तो सब को है। इसके अतिरिक्त यदि यह छोटी सी पुस्तक किसी विशेष योग्यता से नहीं लिखी गई तदपि विद्वानों का ऐसे आवश्यक विषय की ओर ध्यान आकर्षित करने में अवश्य उपयोगी होगी।

इस पुस्तक के लिखने में महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत समस्त पुस्तकों, पं० तुलसीराम कृत मनुस्मृति टीका, तथा पं० भीमसेन और आत्माराम जी राजरत्न कृत संस्कार चन्द्रिका से सहायता ली गई है। प्रसिद्ध वेद-विद्वान् श्रीयुत श्रीपाद् दामोदर सातवलेकर रचित पुस्तकों की शब्दों के अर्थ करने में विशेष सहायता ली गई है। बहुत से अवतारित वेद-वाक्य भी उन्हीं ग्रन्थों के हैं। इसके अतिरिक्त सरस्वती, मासिक पत्रिका तथा पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय लिखित "प्रिय-प्रवास" से भी कई कविताएँ तथा पद उद्धृत किये गये हैं। निरुक्त, निघण्टु, गृह्यसूत्रादि और अन्य अङ्गरेजी तथा भाषा की पुस्तकों और कोषों की सहायता तो ली ही गई है। अतः इन पुस्तकों के लेखक महानुभावों के हम विशेष कृतज्ञ हैं।

सम्भव है कि इस पुस्तक के लिखने में अनेक त्रुटियां हो गई हों। अतः प्रार्थना है कि क्षमाशील पाठक उन्हें क्षमा करेंगे तथा हमें पत्र द्वारा उनकी सूचना देने की कृपा अवश्य करेंगे।

यदि इस पुस्तक से लोकों का कुछ भी उपकार हुवा तथा यज्ञ के महत्व की ओर उन्हों ने तनिक भी विचारा तो हम अपने परिश्रम को सफल समझेंगे।

मयराष्ट्र शिविर
(मेरठ सदर)
२८-५-१९२० ई०

प्रार्थी:—
हरिशरण श्रीवास्तव्य

ओ३म्

विश्वपिता का तर्पण।

आयुर्यज्ञेन कल्पतां * प्राणो यज्ञेन कल्पताम्।

चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां * श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताम्।

वाग्यज्ञेन कल्पतां * मनो यज्ञेन कल्पताम्।

आत्मा यज्ञेन कल्पतां * ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताम्।

ज्योतिर्यज्ञेन कल्पतां * स्वर्यज्ञेन कल्पताम्।

पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां * यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्।

* ओ३म् *

बलिवैश्वदेव यज्ञ में आये हुए
ईश्वर-भक्ति के
नौ-स्वरूप ।

(द्रुत-विलम्बित छन्द)

श्रवण, कीर्त्तन, वन्दन, दासता ।
स्मरण, आत्म-निवेदन, अर्चना ॥
सहित सख्य तथा पद-सेवना ।
निगदिता नवधा प्रभु-भक्ति है ॥

(मन्दाक्रान्ता छन्द)

विश्वात्मा जो परम-प्रभु है रूप तो हैं उसी के ।
सारे प्राणी सरि गिरि लता बेलियां वृक्ष नाना ॥
रक्षा, पूजा, उचित उनका यत्न, सन्मान, सेवा ।
भावों सिक्ता परम-प्रभु की भक्ति सर्वोत्तमा है ॥
जीमे बातें सकल सुनना आर्त्त-उत्पीड़ितों की ।
रोगी-प्राणी व्यथित-जन की लोक-उन्नायकों की ॥
सच्छास्त्रों का श्रवण, सुनना वाक्य सत्संगियों का ।
मानी जाती **श्रवण**-अभिधा भक्ति है सज्जनों में ॥

सोये जागें, पतित-तम की दृष्टि में ज्योति आवे।
भूले आवें सुपथ पर औ ज्ञान उन्मेष होवे॥
ऐसे गाना कथन करना दिव्य न्यारे गुणों का।
भक्ति है श्री परम-प्रभु की **कीर्त्तनोपाधि-वाली**॥
विद्वानों के स्वगुरुजन के देश के प्रेमिकों के।
ज्ञानी, दानी, सु-चरित गुणीराज-तेजीयसों के॥
आत्मोत्सर्गी महत-जन के देव-सद्विप्रहों के।
आगे होना नमित प्रभु की भक्ति है **वन्दनाख्या**॥
जो बातें हैं भव-हित-करी सर्व-भूतोपकारी।
जो चेष्टायें मलिन—गिरती—आतमा हैं उठाती॥
हाथों बांधे सतत उनके अर्थ उत्सर्ग होना।
भक्ति पाता-अखिल जग की **दासता** संज्ञका है॥
कंगालों की विवस बिधवा औ अनाथाश्रितों की।
उद्विग्नों की सुगति करना औ उन्हें त्राण देना॥
सत्कार्य्यों का विविध-पर की पीर का ध्यान आना।
भाखी जाती **स्मरण**-अभिधा-भक्ति है सज्जनों में॥

(द्रुत-विलम्बित छन्द)

विपत-सिंधु पड़े नर-वृन्द के।
दुख-निवारण औ हित के लिये॥
अरपना अपने तन प्राण को।
प्रथित **आत्म-निवेदन**-भक्ति है॥

(मन्दाक्रान्ता छन्द)

संत्रस्तों को शरण, मधुरा-शान्ति संतापितों को
निर्बोधों को सुमति विविधा-औषधी पीड़ितों को ॥
पानी देना तृषित-जन को अन्न भूखे-नरों को ।
भक्ति वासी-सकल-उर की **अर्चना**-संज्ञका है ॥
नाना-प्राणी, तरु, गिरि, लता, बेलि की बात ही क्या।
जो हैं भू में, गगन-तल में, भानु से मृत्कणों लौं ॥
सद्भावों के सहित उन से कार्य्य प्रत्येक लेना ।
सच्चा होना सुहृद उनका भक्ति है **सख्य**-नाम्नी ॥

(बसन्त तिलका छन्द)

जो यूथ-मानव स्व-कर्म्म-निपीड़नों से ।
नीचे समाज-वपु के पग लौं पड़ा है ॥
देना उसे शरण मान प्रयत्न—द्वारा ।
है भक्ति लोक-पति की **पद-सेवनाख्या** ॥

"प्रिय प्रवास"

श्रवणं, कीर्त्तनं, विष्णोः स्मरणं, पादसेवनम् ।
अर्चनं, वन्दनं, दास्यं, सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

—भागवत पुराणे

* ओ३म् *

दिव्य-देव का आराधन।

'ओं' प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे।
प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना॥
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं।
प्रातस्सोममुत रुद्रं हुवेम॥
प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम।
वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता॥
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्।
राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥
भग प्रणेतर्भग सत्यराधो।
भगेमां धियमुदवा ददन्नः॥
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैः।
भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम॥
उतेदानीं भगवन्तः स्याम।
उत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्॥
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य।
वयं देवानां सुमतौ स्याम॥
भग एव भगवाँ अस्तु देवाः।
तेन वयं भगवन्तः स्याम॥
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति।
स नो भग पुर एता भवेह॥

ऋ० मं० ७ सू० ४१

ओ३म्

बलि-वैश्व-देव-यज्ञ

की

वैदिक व्याख्या

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मेराध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥

यजु० अ० १ मं० ५

संसृत-शाला में मनुष्य बारम्बार अनेकशः रूप रूपान्तरों में प्रकट होता है। कर्म्म वश भिन्न २ योनियों में प्रवेश करता है, मरता है, पुनः जन्म धरता है, इसी भांति इस संसार-सागर में विचरता है। यह विचित्र-चक्र अनवरत-गति से चला जाता है, परन्तु जड़-जीव इसे देखता हुआ भी नहीं देखता, जानता हुआ भी नहीं जानता, भटकता है, भूला सा फिरता है, अन्त में अपने ही हाथों से पैरों में कुल्हाड़ी मार कर पंगु हो जाता है। कभी अन्तःकरण के अंकुश की चोट से चौंका, सचेत हुआ, तो सोचता है अब करूँगा, अबकी बार अवश्य करूँगा। अब तक करते ही करते अब जब निकल जाता है तब कब का प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहता है। फिर कहता है कुछ हानि नहीं

यदि कल न किया तो कल सही परन्तु आज नहीं इसी प्रकार कल-कल करते हुये इस केलि-कल्लोल का अन्त हो जाता है। फिर वैसा ही विकल होता है, रोता है, पछताता है, किन्तु जीवन-ज्योति का अवसान होता है, और आये हुये अवसर को हाथ से खोता है। यह सब कुछ होता है, परन्तु जीवनोद्देश्य को नहीं सोचता पर नहीं सोचता। परम-पिता ने यह तनु-तारतम्य क्यों बनाया है इसका भूलकर भी ध्यान नहीं आता। सुख का स्वप्न देखता है परन्तु दुख का प्रयत्न करता है। नहीं विचारता कि अपनी अवस्था को उच्च तथा उन्नत करके उस अन्तिम-अभीष्ट की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना ही इस जटिल-जन्म-जाल का प्रयोजन है। जीवात्मा को पुनः पुनः मनुष्य शरीर देकर स्वदशा को सुधारने का सु-अवसर देना ही उस पूज्य पितामह को इप्सित है। इन सहस्रों योनियों में बल-बुद्धि-सम्पन्न नर-तनु ही सर्व-श्रेष्ठ है। इसी गृह में रहते हुये जीवात्मा को अधिक सुभीता है तथा परमपद की प्राप्ति सम्भव है।

धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन्हीं चार पदार्थों की सिद्धि करना ही मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है। अन्य सब सिद्धान्त इन्हीं चारों के अन्तर्गत आजाते हैं। परम-पिता तथा अमृत-पुत्रों के मध्यवर्त्ती यही चार प्रयाणक हैं। एक से दूसरे पर, दूसरे से तीसरे पर, इसी प्रकार चलते हुये यात्री अन्तिम स्थान पर पहुँच जाते हैं। जहां सुख है, क्षेम है, पवित्र-प्रेम है, वासना नहीं,

विलास नहीं, अनुभव है, स्वाद है, परन्तु वर्णन नहीं। वही जगत्-जननी की आनन्द-मयी गोद है। अहो, संसार के अस्थिर झूठे सुखों में भूले हुये प्राणियों! क्या उस अनुपम-आनन्द का अनुभव करना चाहते हो? यदि इच्छा है, चाहना है, तो आवो तुम्हें बस एक उपाय बतावें जिसके आगे कोई उपाय ही नहीं। जो उस ज्ञान के भण्डार, ईश्वर प्राप्ति के सच्चे साधन वैदिक-विज्ञान की शरण। उस में उस श्रेष्ठ-मार्ग का विधान है जिसके अवलम्बन से सहज ही में तुम उस अगम्य, अचिन्त्य और अनन्त का भी परिचय पा सकोगे।

परन्तु उस मार्ग पर तुम क्यों जाने लगे? ठीक ही है। नई सभ्यता आयी है, अपने साथ निराले ज्ञान का भण्डार लाई है। जाओ, जाओ, अय नूतनता के प्रेमियो! उसी ओर जाओ। तुम्हारे लिये तो वह गड़रिये के गीत हैं, यह उपदेश निरर्थक प्रलाप है, बस पश्चिम की जीत है। पूर्व तो पहले से ही भयभीत है। परन्तु स्मरण रहे—"सबै दिन जात न एक समान"। पूर्व तथा पश्चिम दिग्वर्त्ती सूर्य्य-तेज का अन्तर स्पष्ट है। पूर्व का भी कभी कोई समय था। परन्तु भाग्य पलट गया। विधाता ने इसी कारण आँखें फेर लीं। पर इससे क्या वह ज्ञान का स्रोत ज्यों का त्यों प्रवाहित है। तुम उसका सदुपभोग नहीं करते न करो। उसकी स्वर्गीय, ज्योति में नहीं विचरते, न सही। इससे उसका वैभव उसकी शोभा कुछ कम नहीं हो सकती। अविद्यान्धकार में पड़े हुये वेद-वाणी को गड़रिये का गीत

बतलाते हैं। यह तो है ही। उथले गढ़े का मेंढक कहीं सागर की कल्पना कर सकता है। मूर्ख से पूँछो 'सूर्य्य कितना बड़ा है'? कह देगा 'थाली के बरोबर'। यह आस्मान्-वितान कितना महान् है इसका अनुमान उसके विचार-विमान की उड़ान से परे है। भला अनजान को काहे का ज्ञान। जिन्हों ने कभी देखा, न सुना, वह उस कल्प-वृक्ष के फल को क्या जानें। मधुर-मिश्री का स्वाद खाने ही पर ज्ञात होता है। तुम समझो, न समझो। मन मानी करो। किन्तु हम क्यों न समझायें। आओ एक वैदिक-मुक्ता की परख करें।

वेद वास्तव में ज्ञान, कर्म, उपासना आदि रत्नों के अशेष-आगार हैं। पुरुषार्थ करके जो मनुष्य इस वेद-वारिधि में प्रवेश करता है वही इन अद्भुत रत्नों का अधिकारी होता है। सत्कर्म का ज्ञान, और सच्चे धर्म का परिचय वेद से ही होता है। आवागमन रूपी दुःख सागर से पार होने का एक मात्र साधन धर्म ही है। धर्म बिन मनुष्य किसी योग्य नहीं हो सकता। नीतिकार कहते हैं:—

'एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः'

धर्म ही एक ऐसा सच्चा मित्र है जो कि मरने पर साथ देता है। इसके विपरीत अविद्या तथा अधर्म का गर्त्त बड़ा गहन है जिस में गिरे हुये मनुष्य का निस्तार होना अति कठिन है। अतः हे स्वतन्त्रता के प्रेमी मुमुक्षुओ! यदि जीवन-मरण के फन्द से स्वच्छन्द होने की अभिलाषा है, यदि अब भी अपना

उद्धार चाहते हो, तो चेतो ! वैदिक धर्म की शरण आओ। अवसर है। नहीं तो फिर:—

'समय नहिं आवत बारम्बार'

मनुष्य का सच्चा कर्त्तव्य निस्संदेह चतुर्वर्ग की प्राप्ति ही है। किन्तु बिना प्रयास और परिश्रम के संसार में कोई भी वस्तु सुलभ नहीं। इसी प्रकार इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के हेतु भी उद्योग-शील होना तथा पुरुषार्थ करना आवश्यक है। इस प्रयत्न के पुञ्ज की दो तालिका हैं। ज्ञान और कर्म्म। इन दोनों को हस्तगत करने के लिये उपासना करना उचित है। साधारण ज्ञान बिना कर्म्म तथा कर्म्म के बिना विशिष्ट विज्ञान का होना असम्भव है। अत:—

'उत्तिष्ठत सनह्यध्वम्'

'उठो और उन्नति के लिये पुरुषार्थ करो' यह वेद भगवान् की आज्ञा है। यजुर्वेद में कहा है कि:—

देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणा आप्यायध्वम्।

हे लोको ! आप सबको वह परम-पिता श्रेष्ठतम कर्म्मों की प्रेरणा करे।

वेद-विहित सत्कर्म्मों की श्रेणी में पञ्च महायज्ञ हैं। सर्वोत्तम कर्म्म को ही यज्ञ कहते हैं। यजुर्वेद अध्याय ३० में सब से प्रथम यही प्रार्थना है:—

'प्रसुव यज्ञम्'

परमात्मन् ! यज्ञ की प्रेरणा कीजिये।

पञ्च महायज्ञ यह हैं—

(१) ब्रह्म यज्ञ। (३) भूत यज्ञ।
(२) देव यज्ञ। (४) पितृ यज्ञ।
(५) मनुष्य यज्ञ।

प्रत्येक के अर्थों को मनु भगवान् इस प्रकार प्रदर्शित करते हैं:—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः, पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमोदैवोबलिर्भौतो, नृयज्ञो अतिथि पूजनम्॥ ३। ७०।

ब्रह्मयज्ञ (पढ़ाना), पितृयज्ञ (तर्पण), देवयज्ञ (होम), भूतयज्ञ (भूत बलि), और नृयज्ञ (अतिथि पूजन) को कहते हैं। इन पाँचों यज्ञों की प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज के उपकारार्थ ही रचना की गई है। इस पुस्तक में अन्य यज्ञों के विषय में कुछ न कहते हुये केवल भूतयज्ञ जिसको बलि वैश्वदेव यज्ञ अथवा भूतबलि भी कहते हैं उसके विषय में ही विचार करना है।

॥ शब्दार्थ ॥

सब से प्रथम बलिवैश्वदेव यज्ञ के शब्दों पर ध्यान देना उचित है। इनमें से प्रत्येक शब्द बड़े महत्व का है। उन के अर्थ समझ लेने मात्र से ही इस शुभ कर्म्म का मर्म्म स्वयमेव ज्ञात हो जायगा।

(१) यज्ञ:—

योगीराज दयानन्द कहते हैं कि "यज्ञ उसको कहते हैं कि जिस में विद्वानों का सत्कार, यथा-योग्य शिल्प अर्थात् रसायन जोकि पदार्थ विद्या उससे उपभोग और विद्यादि शुभगुणों का दान, अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टि, जल, औषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुँचाना है"। पुन: भाष्य-भूमिका में लिखते हैं कि "यज्ञ परोपकार के ही लिये होता है इसका प्रमाण:—

यज्ञोपि तस्य जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति
ऐ० ब्रा० पं० १। ख० २॥

अर्थात् जनता नाम जो मनुष्यों का समूह है उसी के सुख के लिये यज्ञ होता है, और संस्कार किये द्रव्यों का होम करने वाला जो विद्वान् मनुष्य है वह भी आनन्द को प्राप्त होता है, क्योंकि जो मनुष्य जगत् का जितना उपकार करेगा उसको उतना ही ईश्वर की व्यवस्था से सुख प्राप्त होगा, "इसलिये यज्ञ का अर्थवाद यह है कि यज्ञ अनर्थ दोषों को हटा के जगत् में आनन्द को बढ़ाता है"।

यह ही वैदिक-धर्म्म के पुनरुद्धारक, सर्वहितकारक, ऋषि-राज दयानन्द की यज्ञ के लाभ तथा उसके अर्थों के विषय में सम्मति है। अब इसके शाब्दिक अर्थों को देखिये:—

यज्ञ शब्द यज् धातु से बना है जिसके अर्थ यह हैं:—

(१) यज्ञः—

'यज्-देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु'

पूजा अर्थात् सत्कार करना, सङ्गति अर्थात् मित्रता करना, और दान करना यह इस शब्द के तीन अर्थ हैं। श्रेष्ठों का सत्कार, बराबर वाले सज्जनों से मित्रता तथा अपने से छोटों को दान यही भाव यज्ञ शब्द से ध्वनित होता है।

(२) बलिः—

इस शब्द के पूजा, आराधना, आहुति, हव्य, उपहार, महायज्ञ नित्य प्रति भोजन का एक भाग, कर अर्थात् (tax या tribute), उच्छिष्ट, इतने अर्थ हैं। इन अर्थों में से प्रत्येक को लेने से यज्ञ का एक विशेष प्रयोजन ज्ञात होगा।

(३) वैश्वः—

इस के अर्थ विश्व सम्बन्धी हैं, और विश्व शब्द के अर्थ सब, सम्पूर्ण, सार्वजनिक, प्रत्येक और संसार के हैं।

(४) देवः—

इस शब्द के अर्थ अनेक हैं, विशेषतया (दिवु क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, गतिषु) इस धातु से:—जो खेलता है, विजय की इच्छा अथवा विजय के लिये प्रयत्न करता है, व्यापार व्यवहार करता है, चमकता है, ईश्वर की स्तुति करता है, सदा आनन्द में रहता है, सदा प्रसन्नचित्त रहता है, जिसे गाढ़ निद्रा आती हैं, जो प्रीति करता है, हलचल करता है और जो दान करता है वह देव है।

'देव' शब्द और वैदिक व्याकरणाचार्य्य यास्क

"देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा"

देवो दानाद्वा—देव दान से है:—

१—(अ) महतोमहीयान्—दान दिव्य-ज्ञान आदि का प्रदाता जगदीश्वर।

(आ) ज्योतिष्मती बुद्धि का देने वाला प्रभु परमात्मा।

(इ) आत्मबल, वीर्य, तेज, ओज आदि का दाता महान् दयालु पिता।

२—धर्म्म, देश और जाति के लिये तन, मन, धन, सर्वस्व बलि करने वाले पुण्यकर्मा जीवात्मा।

३—प्रकाशादि के देने वाले भौतिक सूर्य्यादि।

देवो दीपनाद्वा—देव दीपन करने से है:—

१—(अ) पुरुषार्थी योगीजनों के मन-मन्दिरों को स्वदिव्य दर्शन से आलोकित करने वाला करुणामय सहज प्रसादकृत स्वामी विश्वेश।

(आ) सूर्य्यादि लोकों का प्रकाशक ईश्वर।

२—(अ) सर्वज्ञ—परमेश के दिव्य-आदेश को विश्वभुवन में प्रचारित करने वाले सन्यासी आदि पुण्यजन।

(आ) ज्ञान दाता माता, पिता तथा आचार्य्यादि।

३—पृथिवी चन्द्रादि लोकों को प्रकाशित करने वाले सूर्य्यादि भौतिक लोक।

देवो द्योतनाद्वा—देव द्योतन करने (प्रकाशित होने) से है:—

१—सकल ब्रह्माण्ड में व्यापक ज्योतिःस्वरूप विश्वराट् ।

२—धार्मिक सदाचारी वेदज्ञ विद्वान् पुरुष ।

३—अन्धकारमयी रात्रि में प्रकाशित होने वाले चन्द्र खद्योतादि ।

देवो द्युस्थानो वा—देव द्युस्थानी होने से है:—

१—पवित्र मानव हृदयधाम में तपस्वी योगीजनों द्वारा प्राप्य एकमात्र उपास्य देव 'ओं सच्चिदानन्द ब्रह्म' ।

२—विश्वपिता के तृतीय (उत्तम) आनन्दधाम में निर्बाध विचरने वाली मुक्त आत्माएँ ।

३—प्रकाशक-जगत् के सूर्यादि अङ्ग । इत्यादि ।

(५) भूत:—

इसके अर्थ पाया हुआ, व्यतीत हुआ, पृथ्वी, वायु, जल, आदि पांच तत्व, न्याययुक्त कार्य्य, प्राणी, सत्य, पुत्र, भक्त, अन्धेरा, पद्म, समय, संसार और ईश्वर हैं ।

इन सब अर्थों को विचारते हुये भूत-यज्ञ, भूत-बलि, किंवा बलिवैश्वदेव यज्ञ के निम्नलिखित पांच अर्थ निकल सकते हैं जोकि चार वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं:—

॥ प्रथम वर्ग ॥

आत्मिक उन्नति का साधन ।

(१) वह शुभकर्म्म जिसमें कि जगत् के स्वामी परब्रह्म की पूजा या आराधना की जाती है । अर्थात् "परमात्मा-प्रेम" शिक्षक शुभकर्म्म ।

(२) वह उत्तम कार्य्य जिसमें कि वायु, सूर्य्य, चन्द्र इत्यादि अन्य प्राकृतिक पदार्थों के उपकारार्थ तथा उनकी शुद्धि आदि के लिये हव्य प्रदान किया जाता है अर्थात् आहुति दी जाती हैं, जिनसे कि जल, वायु शुद्ध, अग्नि, सूर्य्य तेजयुक्त और आकाश निर्मल रहने के कारण जीवों का बड़ा लाभ होता है, तथा उन उन भिन्न तत्वों के भिन्न २ गुणों से संगति अर्थात् मेल होता है। *"प्रकृति-प्रेम"* शिक्षक शुभ कर्म्म।

※ द्वितीय वर्ग ※

सामाजिक उन्नति का साधन।

(३) राष्ट्र अथवा समाज को हितकारी वह शुभकृत्य जिसमें कि:—

अ—सम्पूर्ण राजा, मन्त्री, ब्राह्मण, विद्वान, माता, पिता तथा आप्त पुरुषों का सत्कार, और उन्हें यथा योग्य कर, उपहार और अन्न भोजन इत्यादि देने की व्यवस्था होती है।

आ—प्रत्येक समान गुण वाले व्यापारी, व्यवहारी, परमार्थ-प्रेमी तथा सज्जन से मेल करने की शिक्षा होती है।

इ—अपने से नीच तथा असमर्थ हर एक बालक, वनिता और आलस्यग्रस्त मूर्ख आदि के प्रति न्याययुक्त आचरण करने एव दया दर्शाने का भाव हृदय में जागृत होता है।

'विश्व-प्रेम' शिक्षक शुभ कर्म्म।

※ तृतीय वर्ग ※

शारीरिक उन्नति का साधन।

(४) शरीर के सब अङ्गों को उत्तम भोजन प्रदान करते हुये सुगठित तथा दृढ़ बनाने की शिक्षा देने वाला उत्तम कर्म।

'स्वात्म-प्रेम' शिक्षक शुभ कर्म्म।

※ चतुर्थ वर्ग ※

प्राणी-मात्र के उपकार का साधन।

(५) सम्पूर्ण चर, अचर, जड़, चेतन के प्रति सत्कार, मित्रता तथ दया का भाव सिखाने वाला कार्य्य। अथवा पक्षी, पतङ्ग, कृमि, कीट आदि को भोजन देकर उनका उपकार जिससे होता है वह सत्कृत्य।

'चराचर-प्रेम' शिक्षक शुभ कर्म्म।

यह पांच भाव इस यज्ञ के नाम से प्रकट होते हैं। सारांश यह कि बलिवैश्वदेव यज्ञ के अन्तर्गत सामाजिक तथा वैयक्तिक, आत्मिक, आध्यात्मिक और शारीरिक उन्नति के भावों का समावेश है। लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार की उन्नति इस यज्ञ का ध्येय है। इन उन्नतियों का किस प्रकार सूत्र पात होता है यह आगे चलकर मन्त्रों के तात्पर्य्य से ज्ञात होगा।

वैदिक-प्रमाण

सब से प्रथम यह प्रश्न उठना स्वभाविक ही है कि, क्या बलिवैश्वदेव यज्ञ वेद प्रतिपादित है ?

अवश्य ! क्योंकि अथर्व वेद में इसका स्पष्ट रीति से विधान है :—

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥

—अथर्व० का० १९-अनु ७-मं० ७ ।

अर्थात् 'हे अग्ने परमेश्वर ! आपकी आज्ञा से नित्यप्रति बलिवैश्वदेव कर्म करते हुये हम लोग चक्रवर्ति राज्य लक्ष्मी, घृत, दुग्धादि पुष्टिकारक पदार्थों की प्राप्ति करें, और सम्यक् शुद्ध इच्छा से नित्य आनन्द में रहें, तथा माता, पिता, आचार्य्य आदि की उत्तम पदार्थों से नित्य प्रीति-पूर्वक सेवा करते रहें । वैसे ही अश्वादि सर्व लाभकारी पशुओं को भी यथा योग्य उत्तम पदार्थ देवें जिससे वे प्रसन्न होकर हम से नित्य प्रसन्न रहें' ।

इस वेद मन्त्र में इस यज्ञ का तात्पर्य कितनी उत्तमता पूर्वक समझाया गया है । यजुर्वेद में भी कहा है :—

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥

—यजु० अ० १९-मं० ३९.

"हे जातवेद परमेश्वर ! आप सब प्रकार से मुझको पवित्र करें। जिनका चित्त आप में है, तथा जो आपकी आज्ञा पालते हैं वे विद्वान् श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष भीं विद्या दान से मुझको पवित्र करें। उसी प्रकार आपका दिया जो विशेष ज्ञान व आपका ध्यान उससे हमारी बुद्धि पवित्र हो और संसार के सब जीव आपकी कृपा से पवित्र और आनन्द युक्त हों।"

इस यज्ञ के वैदिक स्वरूप का द्योतक यह मन्त्र है। इस प्रकार इस यज्ञ के करने के विषय में वेद की आज्ञा है। बलि वैश्व यज्ञ के उद्देश्य के कुछ कुछ समान भाव को ऋग्वेद का निम्नलिखित मन्त्र (भाग) भी व्यक्त करता है:—

नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।

—ऋग्वेद १०-११७-६

अर्थ यह है कि जो मनुष्य केवल स्वयमेव भोजन करता है और अर्यमा (अविद्याऽन्धकार को हटाने वाला धार्मिक विद्वान्) तथा सखा का पोषण नहीं करता वह पापी ही है। पुनः अथर्ववेद में कहा है:—

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः। तमाहुतमशीमहि ॥

अथर्व० १३-१-६०

जो सत्कर्म (यज्ञ) का साधन तन्तु देवों में फैला है उसके लिये (आहुत) दान करने के पश्चात् हम सब मिलकर अन्न ग्रहण करते हैं।

—:o:—

अन्य-प्रमाण

वेद के उपरोक्त प्रमाणों से यह तो निश्चित ही होगया कि बलिवैश्वदेव यज्ञ का करना प्रत्येक का धर्म है। अब इसी विषय के अन्य प्रमाणों पर दृष्टिपात करना है। मनु भगवान् कहते हैं:—

स्वाध्यायेनार्चयेद्दृषीन्होमैर्देवान्यथाविधि।
पितॄन् श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥ ३। ८१।

स्वाध्याय से ऋषियों को, होम से देवताओं को, श्राद्ध से पितरों को, अन्न से मनुष्यों को तथा अन्य भूतों को बलिकर्म से सत्कृत करे। मनुष्यों को किस प्रकार का भोजन करना उचित है इस हेतु मनुस्मृति में लिखा है कि:—

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वामृत भोजनः।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथाऽमृतम्॥ ३। २८५।

सर्वदा विघस भोजन करने वाला व अमृत भोजन करने वाला होना चाहिये। (ब्राह्मणादिकों के) भोजन के शेष को विघस और यज्ञ शेष को अमृत कहते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को इस यज्ञ का करना आवश्यक ही है। आगे चलकर मनुस्मृति में पुनः कहा है:—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥ मनु० ४-२१॥

अर्थात् पञ्चमहायज्ञों को यथाशक्ति कभी न छोड़े। यहां तक इस यज्ञ का गौरव। केवल यह ही नहीं अपितु—

बलिवैश्वदेव यज्ञ का न करना पाप है ।

आचार्य-देव ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में कहते हैं कि:—'ईश्वर ने मनुष्यों को यज्ञ करने की आज्ञा दी है उसको जो नहीं करता है वह ही पापी होके दुःख का भागी होता है।' मनु भगवान् भी इसी प्रकार अपनी सम्मति प्रदर्शित करते हैं।

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्म-कारणात् ।
यज्ञ-शिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ ३ । ११८ ।

जो केवल अपने लिये अन्न पकाता है वह निरा पाप भक्षण करता है, यज्ञादि का शेषान्न ही सज्जनों का भोजन है केवल अपने लिये भोजन पकाने से तात्पर्य भूत-यज्ञ न करने से ही है। तृतीयाध्याय में एक और स्थान पर पुनः कहते हैं कि जो मनुष्य भूत-यज्ञ करने और अतिथि को खिलाने से पूर्व स्वयम् भोजन करता है वह नहीं जानता कि श्वान और शृगाल से अपना भक्षण मरण पश्चात् होगा।

श्रीमद्भगवद्गीता के निम्न श्लोकों के भाव का मनुस्मृति की उपरोक्त आज्ञा से कितना सादृश्य है:—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्ट-कामधुक् ॥१०॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञ भाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्तेस्तेन एव सः ॥ १२ ॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

ब्रह्मा ने सृष्ट्यारम्भ में प्रजा की यज्ञ के साथ साथ सृष्टि करके कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम सब की श्री-वृद्धि हो तथा यह ही कामधेनु के समान तुम्हारी मनोकामनाओं का पूर्त्तिकर्त्ता हो। इस यज्ञ के द्वारा तुम देवताओं को और देवता तुम्हें संतुष्ट करें जिससे परस्पर कल्याण हो। कारण यह कि इस यज्ञ से प्रसन्न होकर देवता लोग तुम्हारे इच्छित भोग प्रदान करेंगे, उनके दिये हुए को उन्हें न देकर जो स्वयं भोग करता है वह वास्तव में चोर है। यज्ञ के शेषान्न को खाने वाले सज्जन सर्व पापों से विमुक्त हो जाते हैं। परन्तु (यज्ञ न करते हुये) जो केवल स्व उदरपूर्ति के लिये ही अन्न पकाते हैं वह मनुष्य पाप भागी होते हैं। इन श्लोकों से एक विशेष भाव यह भी प्रकट होता है कि संसार की स्थिति तथा धारण पोषण के लिये भी यज्ञ की ही आवश्यकता है।

भूतयज्ञ एक प्रकार का प्रायश्चित्त है।

अब विचारना यह है कि निखिल वेद-विद्या-विशारद ऋषि दयानन्द का कथन कि इस यज्ञ का अभिप्राय 'जो अज्ञात् अदृष्ट जीवों की हत्या होती है उसका प्रत्युपकार कर देना है' कहां तक सत्य है? गम्भीरतया इन शब्दों पर मनन करने से यह रहस्य स्वयमेव विदित हो जायगा। बलिवैश्वदेव यज्ञ एक प्रकार का प्रायश्चित्त कर्म्म है। मनु अध्याय ३ श्लोक ६८ में गृहस्थ को पांच वस्तु हिंसा का मूल बताई है:—

पञ्चसूनागृहस्थस्य चुल्लीपेषण्युपस्करः।
कण्डनीचोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥

अर्थात् (१) चूल्हा (२) चक्की (३) बुहारी (४) उलूखल मूसल (५) जल का घड़ा, इनको अपने काम में लाता हुआ गृहस्थ पाप में बन्ध जाता है। यह पांच वस्तु गृहस्थ को हिंसा का मूल हैं। यह किस प्रकार हिंसा करती हैं तनिक इसको भी विचारना उचित है। चूल्हे की अग्नि के तेज से कृमि, कीट, चींटी तथा वायु के अदृष्ट छोटे छोटे जन्तु मर जाते हैं। चक्की की धमक से भी तथा आटा इत्यादि बटोरने के समय भी इन प्राणियों की हिंसा अज्ञात में हो ही जाती है। बुहारी लगाते समय, मूसल उलूखल में अन्न कूटते समय भी ये क्षुद्र जीव जन्तु मृत्यु को प्राप्त होते हैं और अन्ततः जल के घड़े के समीप शीतलता पाकर पिपीलिका इत्यादि आ ही बैठती हैं और अज्ञात में पानी ओंकने समय बिना जाने बहुधा उनकी हत्या हो जाना असम्भव नहीं। इस 'अज्ञात् तथा अदृष्ट' प्राणियों की हिंसा से जो पाप होता है उसके प्रायश्चित्त के लिये महर्षियों ने प्रति दिन के पञ्चयज्ञ रचे हैं यह मनुस्मृतिकार की सम्मति है:—

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्चक्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥ ३। ६९।

वास्तव में बलिवैश्वदेव यज्ञ से इन जीवों का प्रत्युपकार होता है। यज्ञ करते समय जो आहुति इत्यादि डाली जाती हैं उनमें से जो शेषान्न की हवि इधर उधर रह जाती है उन्हें चींटी, चींटे, कीड़े इत्यादि खा जाते हैं इस प्रकार उन्हें भोजन प्राप्ति होती है, इसके अतिरिक्त श्वान, काक, कीट इत्यादि

को बलि कर्म की आहुतियों के पश्चात् भोजन देने की तो स्पष्ट आज्ञा है ही। यज्ञ करते समय उच्चारित मन्त्र-वाक्यों के अर्थ-सुभाषित को हृदयङ्गत करने से जो सर्व-भूतों के प्रति परोपकार-धारणा प्रादुर्भूत होती है उससे अत्यन्त आत्म-कल्याण का होना तो निश्चित ही है। एवं इस अज्ञात् हिंसा का प्रायश्चित्त होता है।

क्या बलिवैश्वदेवयज्ञ केवल गृहस्थ को करना चाहिये?

मनुस्मृति के उपरोक्त श्लोक में गृहस्थ शब्द ही प्रयुक्त हुआ है, इससे शङ्का होती है कि क्या यह यज्ञ केवल गृहस्थियों के द्वारा ही किये जाने योग्य है? ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, और संन्यासी के लिये इसका क्या विधान है? मनुस्मृति में ब्रह्मचारी के लिये इसके करने का कहीं स्पष्ट विधान नहीं परन्तु एक स्थान पर लिखा है कि:—

नह्यस्मिन् युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात्।

अर्थात् द्विज के बालक की मौञ्जिबन्धन से पूर्व कोई क्रिया ठीक नहीं। क्रिया शब्द से श्रौत तथा गृह्यसूत्रों में कहे हुये और स्मार्त्त अर्थात् स्मृतियों में कहे हुये कर्म ही का अभिप्राय है। 'उपनयन संस्कार से प्रथम ब्रह्मचारी के श्रौत, स्मार्त्त आदि कर्म ठीक नहीं' इससे यही आशय निकलता है कि यज्ञोपवीत होने के पश्चात् उसका इन कर्म्मों का करना ठीक है। वैदिक-प्रमाण में दिये हुये प्रथम अथर्ववेद के मन्त्र से भी यही भाव प्रति-फलित

होता है। वहां कोई भेद नहीं किया गया परञ्च सब की ओर से ही परमात्मा से भूतयज्ञ करते हुये आनन्द में रहने की प्रार्थना की गई है। शांखायन गृह्यसूत्र अध्याय २ खण्ड १२ सूत्र २ में आचार्य ब्रह्मचारी से पूँछता है कि 'हे शिष्य! क्या तूने अग्नि, सूर्य, इन्द्र और विश्वदेवों के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन किया है'? इस प्रश्न का ब्रह्मचारी उत्तर देता है, 'मैं ने उन्हें पालन किया है'। इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्मचारी को बलिवैश्वदेव यज्ञ करने का निषेध नहीं वरञ्च आज्ञा है। पुनः इसी गृह्यसूत्र के अध्याय २ काण्ड १७ सूत्र ३ में आचार्य की अनुपस्थिति में उसके भ्राता, स्त्री तथा शिष्य को ही बलिभूत यज्ञ करने का विधान है। इसके अतिरिक्त अदृष्ट हिंसा का होना तो ब्रह्मचारी से भी सम्भव है अतः प्रायश्चित्त स्वरूप में ही इस यज्ञ का करना आवश्यक है।

वानप्रस्थी के लिये तो इसके करने की स्पष्ट आज्ञा है। मनुस्मृति का इस विषय में प्रमाण:—

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम्॥ ६। ५।

अर्थात् वानप्रस्थी को उचित है कि विविध भांति के मुनियों के पवित्र अन्न व शाक मूल फलों से ही इन महायज्ञों को करे। और इसके आगे फिर कहा है कि 'यद्भक्ष्यं स्यात्ततोदद्याद् बलिं भिक्षां च शक्तितः' इससे यह तात्पर्य है कि अपने भोजन में से यथाशक्ति बलि करे और भिक्षा दे।

सन्यासी के लिये किसी भी अग्निकर्म का विधान नहीं परन्तु तो भी यती से जो अज्ञात् और अदृष्ट में रात्रि-दिवस जीव हिंसा हो जाती है उस पाप के निवारणार्थ उसे स्नान करके छः प्राणायाम करने चाहियें। (देखिये मनु० अ० ६ श्लो० ६९)

** गृह्यसूत्रों में बलिवैश्वदेवयज्ञ की विधि **

बलिवैश्वदेव यज्ञ के लिये यद्यपि वेद की आज्ञा है, तथापि यह कर्म गृह्य किंवा स्मार्त्त कहलाता है क्योंकि इसके बलि निकालने के मन्त्र, नियमपूर्वक पूर्व पश्चिम आदि दिशा के सङ्केत तथा विधि-विधान गृह्यसूत्र, अथवा स्मृतियों के हैं। मनुस्मृति में इस यज्ञ का जो विधान है लगभग उसी को महर्षि दयानन्द ने अपनी पंचमहायज्ञ विधि में ग्रहण किया है। उस विधि का विशेष विवरण अर्थ-प्रकरण में दिया ही जावेगा अतः यहां केवल गृह्यसूत्र प्रतिपादित विधि का ही वर्णन करना है।

शाङ्खायन, आश्वलायन, पारस्कर, गोभिल और खादिर गृह्यसूत्रों में इस यज्ञ का वर्णन है। शतपथ ११। ५। ५ में भी इस का विधान है। आश्वलायन के प्रारम्भ में, शाङ्खायन में समावर्त्तन संस्कार से पहले, पारस्कर में समावर्त्तन के पश्चात् तथा विवाह संस्कार की समाप्ति पर, और गोभिल तथा खादिर गृह्यसूत्रों में विवाह संस्कार के पश्चात् इसका वर्णन है। प्रत्येक में सायँ प्रातः भोजन बनने के उपरान्त पके हुए भोजन का अग्नि में होम करने तथा बलि निकालने की विधि है। पारस्कर में प्रत्येक पक्ष के प्रारम्भ में भी इसके करने का विधान है

गोभिल, शाङ्खायन तथा खादिर गृह्यसूत्र में पृथ्वी, जल का घड़ा, उखल-मूसल, तथा द्वार इत्यादि के बलियों को उन्हीं २ स्थानों पर रखने की आज्ञा है, अन्य में बलि को अग्नि में होम करने का आदेश है। गृहस्थ के लिये गोभिल गृह्यसूत्र में यह नियम है कि स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर इस यज्ञ को करें अथवा प्रातःकाल पुरुष और सायङ्काल को स्त्री करे और गृहपति की अनुपस्थिति में दूसरा ब्राह्मण उसके स्थान में इस यज्ञ को विधिपूर्वक करे। अपनी उपस्थिति में गृहपति को ही इसे करना चाहिये, अथवा किसी ब्राह्मण द्वारा भी कराया जा सकता है। खादिर गृह्यसूत्र में कहा है कि यदि भोजन भिन्न समय बने तो यह यज्ञ एक ही बार करना चाहिये। बलि मौन साधकर निकालने चाहियें। यदि भोजन एक ही गृह में कई स्थान पर बने तो यह यज्ञ उस भोजन में से करना चाहिये जो कि गृहपति का हो। इस प्रकार गृह्यसूत्रों की विधि में परस्पर विभिन्नता है। सामान्यतः सब में निम्न लिखित विधि, तथा आहुति डालने और बलि निकालने के मन्त्र हैं:—

दोनों समय भोजन के पक जाने पर गृहपत्नी पति से कहती है 'स्वामिन् भोजन प्रस्तुत है'। गृहपति 'ओ३म्' इस शब्द के उच्चारण द्वारा उसे स्वीकृत करता है। तत्पश्चात् अग्नि में पके हुए भोजन की आहुतियें दी जाती हैं:—

(१) अग्नि को, (२) सोम को, (३) इन्द्राग्नी को, (४) विष्णु को, (५) भारद्वाज धन्वन्तरि को, (६) विश्वेदेवा को

(७) प्रजापति को, (८) अदिति को, (९) अनुमति को, (१०) अग्नि स्विष्टकृत को। इसके अतिरिक्त अन्य गृह्यसूत्रों में ब्रह्म, वनस्पति, स्वर्ग, पृथ्वी और कश्यप इत्यादि के लिये भी आहुतियें हैं। 'को' अथवा 'के लिये' के यहां पर शाब्दिक अर्थ न समझना चाहियें, तात्पर्य केवल यह है कि इन शब्दों की चतुर्थी में 'स्वाहा' शब्द जोड़ कर आहुति देने का विधान है।*

इसके पश्चात् बलि निकाल कर रखने की विधि इन सूत्रों के अनुसार संक्षेप में इस भांति है:—

१. इन्द्र को पूर्व में अपने अनुगामी सहित।
२. यम को दक्षिण में अपने अनुगामी सहित।
३. वरुण को पश्चिम में अपने अनुगामी सहित।
४. सोम को उत्तर में अपने अनुगामी सहित।
५. अदिति तथा आदित्य को सूर्य्याभिमुख होकर।
६. ब्रह्म तथा ब्राह्मणों को पृथ्वी के मध्य में।
७. वास्तोष्पति को पृथ्वी के मध्य में।
८. पूषा, धातृ, विधातृ, और मरुत् को देहली पर।
९. विष्णु को चक्की पर।
१०. वृक्ष को मूसल पर।
११. वनस्पति को वृक्षस्थान पर।
१२. पर्जन्य को जलस्थान पर।

---

* यहां पर मूल संस्कृत न देकर केवल भाषा ही में भाव लिख दिया गया है।

१३. श्री को बिछौने के शिर की ओर।

१४. भद्रकाली को बिछौने के पैर की ओर।

१५. वायु में एक बलि रात्रि में चलने वालों और दिन में चलने वालों को।

१६. धनपति को उत्तर में।

१७. दक्षिण में पितरों को।

बलि को निकालते हुए या निकालकर अग्नि में होम करने की आज्ञा केवल पारस्कर और आश्वलायन गृह्यसूत्रों में ही है। अन्य में बलि को भिन्न भिन्न स्थानों पर रखने तथा सूर्य्यादिक की ओर फेंकने का आदेश है। बलि निकालने के पश्चात् भूमि पर श्वान तथा पक्षी आदि के लिये भोजन डाल देने का प्रसङ्ग केवल शाङ्खायन में ही आया है।

गृह्यसूत्रों का भूतयज्ञ का यह विवरण तुलनात्मक दृष्टि से महर्षि द्वारा सम्पादित बलिवैश्वदेव यज्ञ के समझने मात्र के लिये दिया गया है।

गृह्यसूत्रों में प्रविष्ट और स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा निर्दिष्ट बलिवैश्वदेव यज्ञ की विधियों में यद्यपि अत्यधिक अन्तर नहीं है तथापि बहुत कुछ भेद है। स्वामी जी ने केवल वेदा-नुकूला मनुस्मृति की ही विधि का अवलम्बन किया है जैसा कि पहले कहा जा चुका है। यह भेद कैसा है? क्यों है? इसमें क्या उत्तमता है? सब का भली भांति समाधान किया जा सकता है। परन्तु विस्तार भय से मनन-शील पाठकों के

स्वतः विचार के लिये उसे ज्यों का त्यों छोड़ा जाता है। स्वामी जी ने आहुति करने तथा बलि निकालने के लिये केवल घृत मिश्रित मिष्टान्न को ही लिया है इसमें भी एक विशेषता है कि लवण तथा क्षार पड़े हुए पदार्थों का धूम्र कटु तथा हानिकर होता है और मिष्टान्न ही कृमि, कीटाणुओं को रुचिकर है। किन्तु गृह्य-सूत्रों में बलि निकालने के हेतु किसी भोजन विशेष का विधान नहीं।

** वैदिक तथा गृह्य विधि में भेद **

इस यज्ञ की वैदिक और गृह्य-पद्धति में एक प्रधान अन्तर यह है कि वैदिक-विधि साङ्केतिक है। अर्थात् चिन्ह स्वरूप है। कृत्य से भाव की ओर विशेष बल है। अर्थात् इस यज्ञ के जो आन्तरिक भाव हैं जिनसे कि मनुष्यमात्र का कल्याण हो सके उन्हीं को दर्शाना वेद को अभीष्ट है। यह कृत्य भी उसी ओर सङ्केत करते हैं। नित्यप्रति के एक आह्निक कर्म में राष्ट्र, समाज और सर्व भूतों के प्रति मनुष्य को अपने कर्त्तव्य की स्मृति दिलाना ही वैदिक प्रणाली का एक महान् तथा गरिमाऽन्वित उद्देश्य है। जिस राष्ट्र अथवा समाज का वह एक अङ्ग है, जिस संसार सत्तात्मक सृष्टि का वह एक प्रधान अवयव है उसके प्रति उसे क्या करना योग्य है इस भाव को मनुष्य के हृदय में जागृत करके उसे उचित कर्त्तव्यों से परिचित कराना ही इस यज्ञ की वैदिक विधि का गौरव है। इसके विपरीत गृह्य विधि में जैसा कि उपरोक्त वर्णन से ज्ञात होगा कृत्य की ओर

अधिक ध्यान है, अन्तर्हित भाव का उसमें एक प्रकार से अस्तित्व ही नहीं। तदनुसार बलि वास्तव में उन्हीं उन्हीं स्थानों पर रखना चाहिये। वायु तथा सूर्य की ओर फेंका जाना चाहिये। इससे सारांश यही निकलता है कि ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता गया भाव को भूल कर कृत्य (यथा-विधि वर्त्तन किंवा उपचार) की ओर लोक अधिक ध्यान देने लगे। अतः यह प्रतीत होता है कि इस यज्ञ की गृह्य-पद्धति वैदिक-प्रथा का अपभ्रंश ही है।

** भूतयज्ञ का प्राचीन तथा मध्यम कालीन अस्तित्व **

प्राचीन तथा मध्यम काल में बलि निकालने की प्रथा कितनी अधिक प्रचलित थी उसका प्रमाण अन्य साधनों से भी प्राप्त हो सका है। नाटक तथा काव्य ग्रन्थादि से ऋषियों के आश्रम वर्णन और गार्हस्थ्य जीवन के चरित्र-चित्रण में उस समय में इस यज्ञ का होना पाया जाता है। मृच्छ-कटिक नाटक में एक स्थान पर कहा है:—

यासां बलिः सपदि मद्-गृह-देहलीनाम्।
हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्त-पूर्वः॥

अर्थात् गृह की देहली पर से जिसका बलि हंसो और सारसों से खाया गया था। इससे दो बातें ज्ञात होती हैं:—

(१) [illegible] समय के पुरुषों का इस प्रकार बलि निकालना [illegible]रण सी बात थी।

(२) बलि अग्नि में न डालकर वास्तव में उन्हीं स्थानों पर रक्खा जाता था अर्थात् मृच्छकटिक के रचयिता के काल में गृह्य-पद्धति के अनुसार भूतबलि निकाला अवश्य जाता था।

कादम्बरी में भी यज्ञ आहुतिओं के शेपान्न का कीट पक्षिओं के भक्षणार्थ डाले जाने का तथा खाये जाने का कई स्थानों में वर्णन है। चाणक्य-नीति में 'काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुंक्ते' वाक्य आया है। जो परमार्थ नहीं करते उनकी दशा दर्शाते हुए नीतिकार कहते हैं कि केवल अपना पेट भरने के लिए तो कौआ भी जीवित रहता है और बलि खाता है। इससे भी यही अर्थ निकल सकता है कि उस समय में बलिवैश्वदेव यज्ञ करना प्रत्येक गृही का साधारण सा कर्त्तव्य था, परन्तु समय की विचित्रता देखिये जो नित्यप्रति का कर्त्तव्य था वह अब कभी २ भी नहीं किया जाता।

** बलिवैश्वदेव के करने का फल **

इस यज्ञ के निरन्तर करने वालों को क्या लाभ होता है इसके विषय में शांखायन गृह्यसूत्र में कहा है कि वह पुरुष जोकि वैश्वदेव यज्ञ को सायँ प्रातः करते हैं, वह श्री, दीर्घ आयुष्य, यश और सुसन्तान प्राप्त करेंगे *। यह पदार्थ क्योंकर प्राप्त होते हैं यह मन्त्रार्थ करते समय विदित होगा। सूत्र काल में

* अध्याय २ काण्ड १७ सूत्र ४।

इस यज्ञ का करना अति आवश्यक समझा जाता था। पारस्कर गृह्य सूत्र काण्ड २ कण्डिका १० के अन्तिम सूत्र में लिखा है प्रति दिन यह यज्ञ करे यदि किसी के पास भोजन न हो तो किसी अन्य वस्तु से भूतबलि निकाले चाहे वह केवल जल वा शुष्क काठ ही क्यों न हो। यहां अतिशयोक्ति है आशय यही है कि निर्धन से निर्धन भी अपने भोजन में से बलिवैश्वदेव यज्ञ अवश्य करे क्योंकि काठ का टुकड़ा न तो खाया ही जा सकता है और न उससे बलि ही निकाली जा सकती है। मनु कहते हैं:—

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके।
न चैवात्राशयेत्किञ्चिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजम्॥ ३। ८३।

अर्थात् पञ्च महायज्ञ में पितृयज्ञ के निमित्त पिता माता की अनुपस्थिति में एक ब्राह्मण को भोजन करा देवे परन्तु इस वैश्वदेव के स्थान में किसी को भोजन न करावे, इससे तात्पर्य यही है कि इसे अवश्य करे इसके स्थान में अन्य और कोई कर्म नहीं किया जा सका।

* मन्त्रार्थ *

बलिवैश्वदेव सम्बन्धी उपरोक्त विषयों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने के पश्चात् अब उसके आहुति डालने तथा बलि निकालने के मन्त्रों के अर्थों का निरीक्षण करना है। किन्तु व्याख्या करने से पूर्व यह बात विचारणीय है कि इस यज्ञ में अथवा अग्निहोत्र में वैदिक मन्त्रों के उच्चारण करने तथा पठन करने से क्या लाभ होता है। इस महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका में आये हुए, ब्रह्मज्ञानी ऋषि दयानन्द के शब्दों में इस प्रकार दिया जा सकता है:—

'जैसे हाथ से होम करते, आँख से देखते, और त्वचा से स्पर्श करते हैं वैसे ही वाणी से वेद मन्त्रों को भी पढ़ते हैं क्योंकि उनके पढ़ने से वेदों की रक्षा, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना होती है तथा होम से जो जो फल होता है उसका भी स्मरण होता है'।

वेद मन्त्रों का अर्थवाद अति विचित्र है। ईश्वर की स्तुति तथा उपासना सम्बन्धी, होम के लाभ सम्बन्धी, और भिन्न भिन्न शिक्षा तथा ज्ञान सम्बन्धी अर्थ एक ही मन्त्र में झलकते हैं। 'बलिवैश्वदेव यज्ञ' के शब्दार्थ पांच प्रकार के किये गये हैं उसी भांति आगे चलकर मन्त्रों और सूत्रों के भी अनेक अर्थ प्रकट होंगे।

पञ्च-महायज्ञ-विधि में भूतयज्ञ के होम मन्त्रों की संख्या दश हैं। अर्थ करने से पूर्व यह बात स्मरण रखनी योग्य है कि एक मन्त्र के अर्थ में किन किन भावों का समावेश है। उन विविध भाव-भावनाओं से सुष्ठु रूपेण परिसिञ्चित होकर ही, विचार-वल्लरि सम्यक्तया इस यज्ञ की महत्ता तथा वास्तविकता रूपी वितान पर प्रसरण कर सकेगी, अन्यथा नहीं।

सबसे प्रथम कतिपय शब्दों के अर्थ मनन करना उचित है।

१. ओ३म:—इस शब्द के अर्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं सत्यार्थ-प्रकाश तथा स्वामी जी कृत अन्य ग्रन्थों में सज्जन इसे स्वयं भली प्रकार देख सकते हैं। यहां परमात्मा के नाम से ही तात्पर्य है तथा कहीं रक्षक के भी अर्थ लगे हैं।

२. स्वाहा:—निरुक्तकार यास्काचार्य इसके चार अर्थ करते हैं:—

स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा। निरुक्त अ० ८ खं० २०।

१. स्वाहा (सु+आह)=शुभ कहना, उत्तम भाषण करना, अथवा 'जो वेद वाणी कहती है'।

२. स्वाहा (स्व+आह)= अपने को कहता है', छल कपट छोड़ कर जो बात मन में जैसी हो वैसी ही प्रकट करनी, सत्यनिष्ठा पूर्वक भाषण आदि व्यवहार करना।

३. स्वाहा—सुहुत हो अर्थात् शुभ आहुति हो।

४. (स्व+आ+हा)=दान, परोपकार, स्वार्थ त्याग, अपने सर्वस्व का परोपकार के लिये पूर्णता से त्याग।

महर्षि दयानन्द स्वाहा शब्द के अर्थ 'परमात्मा की आज्ञा पालने को जगत् के उपकार के लिये आहुति देना' करते हैं।

स्वाहा शब्द के इन अर्थों को ध्यान में रखते हुए मन्त्रों के अर्थों को देखना चाहिये।

—:o:—

※ हवन-मन्त्राः ※

१. ओमग्नये स्वाहा—

अग्नि—अग्रणी, नेता, चलानेवाला, तेजस्वी, ज्ञानी, परमेश्वर आदि।

※ अर्थ ※

१. प्रकाशस्वरूप, ज्ञानी, अग्रणी, परमात्मा की आज्ञा पालन करते हुए जगत के उपकार के लिये यह आहुति देते हैं।

२. भौतिक अग्नि के लिये यह आहुति सुहुत हो।

३. अ—अग्रणी या नेता बनने के लिये उत्तम बोलो, स्वार्थ त्याग करो, तथा छल कपट छोड़कर सत्यनिष्ठा पूर्वक भाषण करो।

आ—चलाने-वाला अर्थात् संसार को उत्तम मार्ग पर चलाने वाला बनने के लिये अपने सर्वस्व का परोपकार में पूर्णता से त्याग करो। इससे आशय यह है कि सत्पथ दर्शाने के लिये सन्यासी बनो।

इ—तेजस्वी तथा ज्ञानी बनने के लिये जो वेद वाणी कहती है उसे करो।

२. ओम् सोमाय स्वाहा—

सोम—(स+उमा=अवति इति उमा) संरक्षण, हलचल, प्रेम, प्रीति, आनन्द, सुख, समाधान, ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा, शक्ति, तेजस्विता, वृद्धि आदि जिससे प्राप्त होती है उस विद्या का नाम उमा है। उमा के सहित अर्थात् जिसके पास उमा हो उसे सोम कहते हैं। परमात्मा के पास उमा अर्थात् संरक्षण शक्ति है इसलिये परमात्मा को सोम कहते हैं।

अन्य अर्थ—शान्ति, अमृत, अमरत्व, तेज, मुख्य, प्रधान तथा आकाश भी हैं। चन्द्रमा तथा सब वनस्पति को भी सोम कहते हैं।

* अर्थ *

१. संरक्षक, आकाशवत व्याप्त, तेजस्वी, शान्ति और अमरत्व प्रदाता परमात्मा की आज्ञा पालन करते हुये जगत् के उपकार के लिये यह आहुति देते हैं।

२. सोमादि वनस्पति, चन्द्रमा तथा आकाश के लिये यह आहुति सुहुत हो।

३. अ—संरक्षण करने तथा हलचल मचाने के लिये छल-कपट छोड़ कर सत्य निष्ठा पूर्वक भाषण करो।

आ—प्रेम, प्रीति, आनन्द, शान्ति तथा सुख प्राप्ति के लिये शुभ बोलो, दान, परोपकार करो तथा स्वार्थ त्याग करो और समाधान करने के लिये अर्थात् धैर्य्य तथा आश्वासन देने के लिये उत्तम भाषण करो। शङ्का समाधान करने के निमित्त जो कुछ वेद वाणी कहती है उसे कहो।

इ—ज्ञान प्राप्ति के लिये वेद वाणी के अनुकूल आचरण करो। प्रयत्न, इच्छा-शक्ति और तेजस्विता की वृद्धि के लिये यति बनो।

मुख्य, प्रधान, तथा आकाश के समान सब के हृदय में व्यापक होने अर्थात् सब के प्रीति भाजन बनने के हेतु स्वार्थ त्याग करो, और प्रियंवद बनो। अमरत्व तथा मोक्ष प्राप्ति के लिये वेद की आज्ञानुकूल सन्यासी बनो किं वा परोपकार में सर्वस्व अर्पण करो।

३. ओमग्नीषोमाभ्याम् स्वाहा—

अग्नीषोम—प्राणियों के जीवन का हेतु और दुख के नाश का हेतु होने से परमात्मा का नाम, (जीवन-प्रदायक+दुःख-नाशक) है।

* अर्थ *

१. प्राणियों के जीवन के हेतु तथा दुःख के नाशकारक परमात्मा की प्रसन्नता के लिये तथा उसकी आज्ञा पालन करते हुये जगत् के उपकार के लिये यह आहुति देते हैं।

२. जीवन (तेजोगतिज्ञानं) देने वाले, दुःख (मन के क्लेश, खेद, क्लान्ति, चिन्ता तथा श्रम) अपहारक तत्वों को यह शुभ आहुति हो।

३. अ—संसार को जीवन अर्थात् तेज, शक्ति और ज्ञान प्रदान करने के लिये उत्तम बोलो, सत्यनिष्ठा पूर्वक भाषण करो।

आ—जीवों के दुःख दूर करने को परोपकार तथा दान करो।

इ—जीवों के दुःख दूर करने को सन्यासी बनो।

४. ओम् विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा—

विश्वेदेवा—संसार को प्रकाशयुत करने वाले ईश्वर के गुण, विद्वान्, पंचतत्व, समस्त-प्राणी, शरीर के सब अङ्ग तथा सब दिव्य, पूजनीय, तेजयुक्त पदार्थ।

* अर्थ *

१. संसार को प्रकाशित करने वाले दिव्य-गुणों को धारण करने के निमित्त परमात्मा की आज्ञा पालन करते हुए जगत के उपकार के लिये यह आहुति देते हैं।

२. वायु, पृथ्वी, आकाश आदि पंचतत्वों को यह आहुति सुहुत हो।

३. अ—विद्वान् बनने के लिये वेद-वाणी का आश्रय लो।

आ—समस्त प्राणियों के हित के लिये दान, उपकार तथा स्वार्थ त्याग करो अथवा सन्यासी बनो।

इ—शरीर के सब अङ्गों के लिये दान करो अर्थात् उत्तम भोजन खाकर उन्हें पुष्ट तथा बलिष्ट करो।

५. ओम् धन्वन्तरये स्वाहा—

धन्वन्तरि—शब्द के अर्थ बड़े महत्व के हैं:—

'सर्वरोगनाशक ईश्वरोऽत्र गृह्यते' (ऋषि दयानन्द)

जन्म मरणादि सर्व रोगों का नाश करने द्वारा परमात्मा धन्वन्तरि कहाता है।

धन्वन् शब्द के अर्थ हैं:—धन्व जो अन्तरिक्ष उससे जो आता है अर्थात् जल, जो अन्तरिक्ष को उलांघ कर चमकता है, बिजली या अग्नि, मेघ, धनुष और निर्जल प्रदेश।

इस प्रकार धन्वन्तरि के अर्थ विद्युत, अग्नि, मेघ, वर्षा इत्यादि के भी होते हैं।

इसके अतिरिक्त (धन्वन+तरि)

तरि के अर्थ नौका या तारने वाले के हैं अतः धन्वन्तरि के निम्नलिखित अर्थ भी हो सकते हैं:—

(१) निर्मल प्रदेश को तारने वाला अर्थात् सरिता, वर्षा या मेघ।

(२) धनुष ही है नौका जिसकी, धनुष से जो तरता है या तारता है अर्थात् क्षत्री।

एवं धन्वन्तरि शब्द के अर्थ विचार कर इस मन्त्र के यह अर्थ होते हैं:—

* अर्थ *

१. सर्व-रोग-नाशक, जन्ममरणादि-दुःख-विनाशक, परमात्मा की आज्ञा पालन करते हुये, जगत् के उपकार के लिये यह आहुति देते हैं।

२. वर्षा, रोगनाश तथा तेज प्राप्ति के लिये यह आहुति सुहुत हो। इससे यह ज्ञात होता है कि वर्षा, रोगनाश और तेज प्राप्ति का अग्नि-होत्र साधन है।

३. अ—क्षत्री बनने के लिये छल कपट त्याग मुँह देखी न कहते हुये जो जैसी बात हो उसे वैसा ही कहो, दान करो, परोपकार करो, स्वार्थ त्याग करो।

आ—जन्म मरणादि रोगों से तरने के लिये वेद विद्या का आश्रय लो।

६. ओम् कुह्वै स्वाहा—

कुहू—के अर्थ निरुक्तकार की सम्मति में:—

कुहूर्गूहतेः क्वाभूदिति वा क्व सती हूयते इति वा क्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा। निरुक्ते०

चन्द्रमा को छिपाती है जो, अथवा कहां चन्द्रमा जिसमें ? अर्थात् अमावस्या की रात्रि, कहां होमी हवी को स्वीकार करती है ?

इसके अन्य अर्थ:—

चन्द्रमा, कोयल की कूक और आचार्य दयानन्द के मतानुसार 'दर्शेष्ट्यर्थोयमारम्भः अमावास्येष्टि प्रतिपादितायै चितिशक्तये वा' अर्थात् अमावास्येष्टि, अथवा परमात्मा की चित्त शक्ति जो दो प्रकार की है:—

(१) परमात्मा की आनन्द-प्रदायिनी पालयित्री शक्ति।

(२) परमात्मा की प्रलय-कारिणी विनाशिनी शक्ति।

यजुर्वेद अध्याय ३२ मन्त्र ८ में कहा है:—

तस्मिन्निदँसञ्च विचैति सर्वं स ओतःप्रोतश्च विभूप्रजासु।

'तस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम्' अर्थात् परमात्मा में ही यह सब जगत् बनता तथा बिगड़ता है इस भांति ईश्वर की दो शक्तियां हैं।

अन्धकार के साथ यहां सम्पर्क होने से दूसरी विघातिनी शक्ति से ही इस मन्त्र में अभिप्राय है क्योंकि अगले मन्त्र में अनुमति (पालयित्री) शक्ति से तात्पर्य है।

* अर्थ *

१. परब्रह्म की संहारिणी शक्ति को स्मरण करते हुवे, उसकी आज्ञा पालन करने को, जगत के उपकार के लिये, यह

आहुति देते हैं। इससे प्रयोजन यही है कि सब को सदा मृत्यु का ध्यान रखते हुये पाप-कर्म से बचना और यज्ञादि (शुभकर्म) करने चाहियें। पहले संहारिणी शक्ति को और फिर उत्पादिनी (निर्मात्री) शक्ति को क्यों कहा इसका उत्तर यही है कि यदि मनुष्य प्रारम्भ से ही मृत्यु को दृष्टिपथ में रखता हुआ पाप से बचकर शुभकर्म करेगा तो वह सुख का भागी होगा।

२. चन्द्रमा तथा अमावस्येष्टि के लिये यह आहुति सुहुत हो।

३. अ—चन्द्रमा—{ चन्द्र (चन्द्रयतेः कान्तिकर्मणः)+मा } के समान सबको आनन्द देने के लिये उत्तम भाषण करो, दान करो, परोपकार करो, तथा स्वार्थत्याग करो। जिस प्रकार चन्द्रमा अपने अमृतमय-किरण समूह से विश्व को शीतल प्रकाश दान करता हुआ, स्वयमेव घटता बढ़ता, कष्ट सहता, संसार का उपकार करता है उसी प्रकार मनुष्य को अमृतमयी वाणी से भाषण कर, स्वार्थ त्याग संसार को सुख पहुँचाना चाहिये।

आ—कोयल के तुल्य प्रिय तथा मधुर भाषी बनने के लिये सुभाषण करो। सारांश यह कि मनुष्य को मिष्ठ भाषी होना उचित है। इस उपदेश से निम्नलिखित वैदिक मन्त्रों की तुलना कीजिये।

१ जिह्वया अग्रे मधु मे—मेरी जीभ के अग्रभाग में मधुरता रहे।

२. जिह्वा-मूले मधूलकम्— ” ” के मूल में मिठास रहे।

३. मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्— मेरा स्वभाव तथा आचरण सौम्य होवे ।

४. वाचा वदामि मधुमद्—मैं मीठा भाषण बोलूंगा ।

५. भूयासं मधुसन्दृशः—मैं मधुरता की मूर्ति बनूंगा ।

अथर्व० १-३४-२-३

७. ओमनुमत्यै स्वाहा—

अनुमति—पूर्णमासी, स्वीकृति, अनूकूल गति, पालयित्री-परमात्म-शक्ति, जो सबके हृदय में अनुगत वा व्यापक है ।

* अर्थ *

१. परमात्मा की पालयित्री शक्ति के लिये अर्थात् ईश्वर की कृपादृष्टि के लिये अथवा सबके हृदय में व्यापक परब्रह्म की आज्ञा पालन के लिये, जगत् का उपकार करने को यह आहुति देते हैं ।

२. पूर्णमासी के लिये यह आहुति सुहुत हो ।

३. अ—स्वीकृति के लिये अर्थात् लोक तुझे स्वीकार करें अथवा प्रेम की दृष्टि से देखें उत्तम भाषण करो, दान करो, परोपकार करो ।

आ—ज्ञानी बनने को वेद विद्या सीखो ।

८. ओम् प्रजापतये स्वाहा—

प्रजापति—प्रजा का पालन करने वाला परमेश्वर, राजा, पिता, अन्न, मेघ, वर्षा, सूर्य्य, जनता-पालक ।

* अर्थ *

१. सब के पालन-कर्त्ता, परम-पिता परमात्मा की आज्ञानुसार जगत् के उपकार के लिये यह आहुति देते हैं।

२. अन्न, मेघ, सूर्य्य, इत्यादि को यह आहुति सुहुत हो।

३. अ—प्रजा के पालन करने को परोपकार करो, दान करो, सर्वस्व त्याग करो, उत्तम भाषण करो।

आ—प्रजापति अर्थात् पिता बनने के निमित्त मिष्ट भाषण करो। तात्पर्य्य यह कि पिता को पुत्रों से अच्छी भांति वार्तालाप करना चाहिये। वेद में कहा है:—

भद्रं वद गृहेषु च ॥

भद्रं वद पुत्रैः ॥

'अपने गृहों में सबसे कल्याण कारक भाषण किया करो।'

'पुत्रों के साथ श्रेष्ठ भाषण करो।'

तथा:—

वाचं वदत भद्रया ॥ अथर्व० ३-३०-३ ॥

'परस्पर उत्तम भाषण करो'।

६. ओम् सह द्यावा पृथिवीभ्यां स्वाहा—

सह—साथ।

द्यावा—सुरलोक, प्रकाश।

* अर्थ *

१. स्वर्ग (सम्पूर्ण-सुख) तथा पृथ्वी के लिये अर्थात् लौकिक

तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के सुखों के लिये यह आहुति देते हैं ।

२. भूलोक (पृथ्वी) तथा सुरलोक (आकाश) को यह शुभ आहुति हो ।

३. दोनों प्रकार के सुख के लिये स्वार्थ त्याग करो, दान करो, परोपकार तथा सत्यनिष्ठा धारण करो तथा वेद वाणी का आश्रय लो ।

१०. ओम् स्विष्ट-कृते स्वाहा—

स्विष्टकृत—'यः सुष्टु शोभनमिष्टं सुखं करोति सचेश्वरः'
अर्थात् इष्ट सुख करने द्वारा परमेश्वर ।

अन्य अर्थः—

कृत—के अर्थ सतयुग, पर्याप्ति, यज्ञकर्म, कार्य्य।

इष्ट—इच्छा ।

सु—अच्छा ।

(सु+इष्ट+कृत)=अच्छे यज्ञ का करने वाला, सद्भावना-युक्त कार्य, अभीष्ट की पूर्ति ।

* अर्थ *

१. इष्ट-सुख-कारक परमेश्वर की आज्ञा पालन करने को जगत के उपकार के लिये यह आहुति देते हैं।

२. इच्छित आनन्द-दायक तत्वों के लिये यह आहुति सुहुत हो ।

२. अ—उत्तम यज्ञ-कर्ता बनने को वेद विद्या सीखो।

आ—सद्भावना-युक्त कार्य्य करने तथा अभीष्ट की पूर्ति के लिये दान, उपकार, स्वार्थ त्याग इत्यादि करो।

—:o:—

❊ सारांश ❊

पूर्व लिखित मन्त्रों की आलोचना करने से यह अवगत होगा कि प्रत्येक मन्त्र के साधारणतया तीन प्रकार के अर्थ निकलते हैं जिनमें कई प्रकार की शिक्षायें जो कि मनुष्यमात्र को अत्यन्त हितकर तथा कल्याण-कारक हैं मिलती हैं। यदि मनुष्य उन शिक्षाओं के अनुकूल आचरण करे तो विविध भांति के सुखों को प्राप्त कर सकता है। पाठक गण स्वयं विचार कर सकेंगे कि बलिवैश्व-देव यज्ञ के जो पांच अर्थ दिये गये हैं उनका सूत्रपात इन मन्त्रों में किस प्रकार होता है।

मन्त्रों के तीन प्रकार के निम्नलिखित अर्थ होते हैं:—

१. **परमात्म-परक** (आध्यात्मिक)—जिनसे परमात्मा के अनन्त गुणों का ज्ञान तथा उनको धारण करने का ध्यान करने से उपासक की आध्यात्मिक अथवा आत्मिक उन्नति होती है। उपरोक्त* मन्त्रों के संख्या

---

* वेद में इसी आशय को व्यक्त करते हुए परमात्मा से प्रार्थना है:—

मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां। यजुर्वेद अ० ३२ मं० १६॥

परमात्मा से प्रार्थना है कि "देवाः" विद्वान् तथा दिव्य गुण हम में उत्तम शोभा को धारण करें।

(१) के सब अर्थ इसी प्रकार के हैं। इससे बलिवैश्वदेव यज्ञ के 'परमात्म-प्रेम शिक्षक शुभ कर्म' की अर्थ-सिद्धि होती है।

२. प्रकृति-परक (आधिभौतिक)—इनसे भौतिक द्रव्यों की आहुति दी जाती है जो कि इतस्ततः वायु के समान फैले हुवे हैं और जिनसे मनुष्यादि के शरीर भी बने हैं। "ब्रह्म जगत् में जब उन तत्वों की अग्निहोत्र से उत्तम अवस्था होती तब शरीरस्थ उनके सूक्ष्म तत्व या अंश भी भले प्रकार आप्यायित रहते हैं"। मन्त्रों के संख्या-(२) के सब अर्थ इसी प्रकार के हैं। इससे इस यज्ञ के 'प्रकृति-प्रेम शिक्षक शुभकर्म' की अर्थ सिद्धि होती तथा मनुष्य की शारीरिक उन्नति होती है।

३. जीवात्म-परक (शिक्षात्मक)—जिनसे विविध भांति की शिक्षा प्राप्त होती है। दान, स्वार्थत्याग, परोपकार, मीठी वाणी, वेदवाणी, सर्वस्व त्याग इत्यादि से क्या २ लाभ होते हैं तथा इनकी भिन्न भिन्न बातों के लिये आ[illegible] से इसका ज्ञान होता है। इससे मनुष्य की वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक तथा मानसिक उन्नति होती है तथा इस यज्ञ के 'आत्म-प्रेम, विश्व-प्रेम, परमेश्वर प्रेम शिक्षक शुभ कर्म' अर्थों की सिद्धि होती है। मन्त्रों के संख्या (३) के सब अर्थ इसी प्रकार के हैं।

——— :o: ———

॥ बलि निकालने के मन्त्र ॥

अब बलि निकालने के मन्त्रों के अर्थों पर विचार करना है। यह गृह्य सूत्रों के वाक्य हैं और इनकी संख्या १६ है। इनके अर्थ करने से पूर्व दो शब्दों के अर्थ ध्यान में रखने चाहियें।

सानुग—(स+अनु+ग), अनुग के अर्थ (अनु+ग), पीछे चलने वाला, साथी, अनुगामी या सेवक, दास, मित्र, अनुरूप, तुल्य तथा सेनापति या नायक अतः सानुग के अर्थ (अनुगेन अनुगैः वा सहितः) अनुग के सहित।

नमः—नमस्कार, सत्कार, सन्मान, अर्पण, हवन, अन्न, पारितोषिक, संरक्षण, दया, निवारण, शान्ति, रोष, अपराध, दण्ड, धमकी, गर्जना, बन्धन इत्यादि इत्यादि होते हैं। *

ओ३म् सानुगायेन्द्राय नमः—

इन्द्र—ऐश्वर्य्ययुक्त परमात्मा, सूर्य्य, राजा, प्राणीमात्र, सब में प्रथम तथा उत्तम, महत्ता, और एक प्रकार का वनस्पति का विष। निरुक्तकार की सम्मति में:—

इन् शत्रून् द्रावयिता ॥ निरुक्त १०-८ ॥

'शत्रु को हनन करने वाला' विजयी भी इसके अर्थ हैं।

---

* नमः शब्द के इन वास्तविक तथा विभिन्न अर्थों को महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने ही निज वेद-भाष्य में उद्घाटन किया है। इस शब्द के अर्थ अत्यन्त अद्भुत हैं। इसकी विस्तृत विवेचना पं० सातवलेकर कृत 'रुद्रदेवता का परिचय' नामक ग्रन्थ में देखिये।

* अर्थ *

१. ऐश्वर्य्ययुक्त परमात्मा तथा जो उसके अनुकरणीय गुण हैं उनको नमस्कार* अथवा उनका सत्कार करते हैं।

२. राजा को उसके अनुगामी अर्थात् मन्त्री तथा अन्य पदाधिकारी सहित कर, सत्कार, और आदर।

३. सर्व चर अचर प्राणीमात्र का अन्न से सत्कार या उनको भोजन दान।

४. सूर्य्य को अन्य नक्षत्रों सहित अर्पण अर्थात् हवन जिससे वृष्टि होकर अन्न प्राप्ति हो।

५. वनस्पति अर्थात् अन्न, कन्द, मूल, तथा फल जिससे कि यह यज्ञ करना है उनके विष और अन्य प्रकार की न्यूनताओं (यथा पेड़ में कृमि कीट लगना, फल फूल इत्यादि न आना) का दूर करना। इससे वनस्पति शास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता सूचित होती है।

६. महत्व के लिये अर्थात् अपने से वयोवृद्ध आप्त तथा ज्ञानी पुरुषों के हेतु आदर, सत्कार।

७. शत्रु के निवारण करने वाले अथवा विजयी पुरुष के लिये सन्मान।

---

* नमस्कार के अर्थ अभिमान रहित होकर दूसरे का मान करना ही यहां तथा अगले मन्त्रों में समझना चाहिये।

२. ओम् सानुगाय यमाय नमः—

यम—न्यायाधीश परमेश्वर, नियमन कर्त्ता, जगन्नियन्ता, न्यायाधीश (ये दुष्टान् यच्छन्ति निगृह्णन्ति ते यमा न्यायाधीशाः), द्विज, धार्मिक, कर्त्तव्य, मृत्यु, काक, रथ का चलाने वाला इत्यादि ।

* अर्थ *

१. न्यायाधीश परमात्मा को और उसके अनुयायी अर्थात् सत्य-न्याय-कर्त्ता पाञ्च-जन्य (Public) नेताओं को नमस्कार या सत्कार ।

२. न्यायाधीश तथा उसके अनुयायी पञ्च इत्यादि को पारितोषिक, आदर, सत्कार ।

३. मृत्यु तथा उसके अनुचर रोग आदि का निवारण अर्थात् दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति । 'आयुः पृथिव्यां द्रविणं' तैत्तरीय० पृथ्वी पर सच्चा धन केवल आयु ही है यह ऋषियों का सिद्धान्त था ।

४. चोर इत्यादि को पकड़ने वाले चौकीदार अथवा नगराध्यक्ष, रथ चलाने वाले रथी, द्विज तथा अग्रणी आदि के लिये क्रम से पुरस्कार, दान, सत्कार, आदर ।

५. काक मछली आदि प्राणियों को भोजन ।

३. ओम् सानुगाय वरुणाय नमः—

वरुण—हंस-क्षीर न्याय से अच्छे का स्वीकार ,बुरे का

परित्याग, पूर्ण को अपने में मिलाना, हीन का दूरी करणा, श्रेष्ठता, सन्मान, मिलना और चुनना आदि गुणों का प्रतिनिधि।

अन्य अर्थ:-

आकाश, समुद्र, सूर्य्य, एक वृक्ष विशेष, तथा कोई तरु आदि हैं।

* अर्थ *

१. सब से उत्तम परमात्मा और जो उनके धार्मिक भक्त हैं उनके लिये नमस्कार, आदर, सत्कार।

२. राज-सभा में धर्माध्यक्ष, प्रजा निर्वाचित सभासद् उत वा प्रधान, पण्डित तथा विद्वान् पुरुषों को आदर, सत्कार, भोजन अथवा कर।

३. आकाश,समुद्र आदि देवों को दान या अर्पण अर्थात् हवन। हवन द्वारा सुवृष्टि होने से वायु स्वच्छ और शुद्ध होता है तथा सरिता आदि को जल की प्राप्ति होती है।

४. सर्व प्रकार के वृक्षों को जलदान अग्निहोत्र द्वारा, सूर्य्य तथा तद्वत् पदार्थ अग्नि आदि को हवन।

५. श्रेष्ठ, उत्तम, सन्मान योग्य, हंस-क्षीर न्याय से सत्य का ग्रहण तथा असत्य का परित्याग करने वाले पुरुषों तथा उनके अनुगामियों को अन्न, भोजन की व्यवस्था और आदर।

४. ओम् सानुगाय सोमाय नमः--

"सोम" इस शब्द के अर्थ पहिले किये जा चुके हैं।

* अर्थ *

१. पुण्यात्मा तथा पुण्यात्माओं को आनन्दित करने वाले लोकों को नमस्कार, सत्कार, आदर।

२. संरक्षण करने वाले तथा शान्ति स्थापन करने वाले राज-कर्मचारी गण, सभा नायक तथा उनके अनुगामी, तेजयुक्त, मुख्य, हलचल करने वाले नायक, सैनिक, तथा उनके सहकारियों के लिये अनुग्रह, वेतन भोजन इत्यादि का प्रबन्ध तथा आदर।

३. चन्द्रमा तथा वनस्पति वर्ग के लिये अग्निहोत्र जिससे अन्तरिक्ष की शुद्धि, अमृत या जल की प्राप्ति हो।

४. अमरत्व तथा तद्गत सुखों के लिये पूजा, भक्ति, स्वार्थ-त्याग, तथा दया।

५. ओम् मरुद्भ्यो नमः —

मरुत् —हिरण्य (सोना, तेज), रूप, ऋत्विज, कम बोलने वाले या न बोलने वाले मुनि बहुत बोलने वाले (चाटुकार, जल्पक), उत्तम प्रकाशक, नियमानुकूल प्रीति कर्त्ता, अत्यन्त तेजयुक्त पदार्थ, अत्यन्त पिघलने वाले द्रव्य, अति गतिमान्, जो मरते हैं अर्थात् मनुष्य, सदा प्रसन्न चित्त रहने वाले।

अन्य अर्थ:—

वायु, श्वाँस, प्रश्वाँस, जीवन।

* अर्थ *

१. प्रकाश-मूल, प्रेम-स्वरूप परमेश्वर के लिये नमस्कार।

२. मुनि, ऋत्विज्, यम-नियम पालन में विशेपतया संलग्न तपस्वी जीवन वाले वानप्रस्थी इत्यादि को भोजन, अन्न, आदर।

३. द्वारपालों को पुरस्कार। द्वारपाल अधिक वार्त्तालाप न करते हुए द्वार पर चुपचाप खड़े रहते हैं।

४. अ—प्रकाश देने वाले पदार्थ सूर्य्य चन्द्रादि को हवन।

आ—वायु को दान अर्थात् हवन द्वारा उसकी शुद्धि करके उसे सुगन्धित करना।

५. अ—हिरण्य (सोना), तेजयुक्त, सुन्दर, पिघलने वाले पदार्थ अर्थात् चांदी आदि धातुओं के लिये संरक्षण। तात्पर्य यह कि हीरा, सोना चांदी मूल्यवान् पदार्थों की रक्षा करनी उचित है। देश का धन देश ही में रहना चाहिये।

आ—रूपयुक्त पदार्थ स्त्री तथा अन्य सुन्दर वस्तु के लिये संरक्षण अनुग्रह तथा प्रतिबन्ध।

इ—रथ, हाथी, विमान, अश्व इत्यादि के लिये जो कि गतिमान् पदार्थ हैं संरक्षण।

६. वायु, श्वास, प्रश्वास तथा ऐसे पदार्थ जिन पर जीवन अवलम्बित है उनके लिये संरक्षण तथा नियमन। श्वास

के लिये प्राणायाम और वायु को साधारण तथा विद्युत व्यजन आदि से नियमित रूप में यथेच्छा लेना।

६. ओमद्भ्यो नमः—

आपः—यह शब्द (आप्लृ व्याप्तौ) धातु से बना है यह सदा स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है। "इसके अर्थ सर्वव्यापक ईश्वर के हैं"—यह आचार्य्य दयानन्द का मत है। इस शब्द से ईश्वर के ग्रहण करने में प्रमाण:—

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः।
असच्च यत्र सच्चान्त-स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

अथर्व० कां० १०-अनु० ४ मं० १०।

जिसमें सब लोक लोकान्तर अर्थात् सब जगत् का कारण रूप कोष जिसमें अदृश्य असत् रूप आकाशादि और सत स्थूल प्रकृत्यादि सब पदार्थ स्थित हैं उसी का नाम अप् है। और वह नाम ब्रह्म का है तथा उसी को स्कम्भ कहते हैं। वह कौनसा देव और कहां है? उत्तर--सब के (अन्तः) भीतर व्याप्त हो रहा है।

'आपः' शब्द के अन्य अर्थ:—आकाश, जल।

इसी से बने हुये अपस (आप् असुन् ह्रस्वश्च) शब्द के अर्थ:—

यज्ञकर्म, कार्य्य, पवित्र कृत्य, प्रवाहित जलादि हैं।

* *अर्थ* *

१. सर्व-व्यापक परमात्मा को नमस्कार।

२. आकाश को अर्पण अर्थात् हवन।

३. अ—जल को नियमन। जल को तड़ाग, वापी वप्र-बन्ध (Embankment) आदि में अवरोधन करके नियमानुकूल समय समय पर निश्चित् प्रणाली (Canal) में बहाना। यह जलप्लावन (Irrigation) के ज्ञान का द्योतक है। अथवा अग्निहोत्र द्वारा समयानुकूल वर्षा कराने के भी अर्थ हो सकते हैं।

आ—सरिता, कूप, प्रणालिका (Water-pipe) में जल का संरक्षण किंवा अवरोधन।

४. संसार में जिनकी कीर्त्ति व्याप्त हो रही है ऐसे सत्पुरुषों का आदर, सत्कार, अन्न तथा भोजन। यह वीर-पूजा (Hero-worship) की शिक्षा है जो कि राष्ट्र-उन्नति का एक अचूक साधन है।

७. ओम् वनस्पतिभ्यो नमः—

वनस्पति—वन का पति-वन का अर्थ जङ्गल या जल अतः इस शब्द के अर्थ वन रक्षक (Conservator) अथवा वन विभाग का स्वामी, और जल के रक्षण कर्त्ता किंवा आरोग्य विभाग के कर्म्मचारी (Sanitary Inspector or Health officer) के हैं। इसके अतिरिक्त:—

जल का स्वामी, पालक, मेघ या सूर्य्य, वर्षा वा समुद्र, कोई वृक्ष अथवा वृक्ष विशेष, फलवान् तरु, लता, वानप्रस्थी, यज्ञ स्तम्भ, वन का स्वामी सिंह आदि भी अर्थ हैं।

* अर्थ *

१. 'वनानां लोकानां पतय ईश्वरगुणाः परमेश्वरो वा बहु वचनमत्रादरार्थम् ।' लोकों के स्वामी परमेश्वर को नमस्कार । (ऋषि दयानन्द ।)

२. जिन से वर्षा अधिक होती है और जिनके फलादि से जगत् का उपकार होता है उनके लिये संरक्षण ।

यहां एक बात बड़े महत्व की है । वृक्ष फल फूल तो देते ही हैं परन्तु वर्षा को भी बढ़ाते हैं । वर्त्तमान विज्ञान का यह एक सिद्धान्त है कि जहां वन अधिक होते हैं वहां वर्षा अधिक होती है और जहां वन नहीं होते वहां वर्षा कम होती है । इसी कारण से वृक्षों को काट कर या उगा कर वर्षा को घटाते या बढ़ाते हैं । इस अर्थ में यह वैज्ञानिक नियम आभासित है ।

३. अ—वानप्रस्थी को सत्कार, आदर तथा भोजन । वानप्रस्थी वन में विचरने के कारण वन के स्वामी ही हैं ।

आ—वन औषधि के पति अर्थात् पालन कर्त्ता भिषगादि को पारितोषिक आदर, सत्कार आदि ।

इ—(वनस्पतीनां अन्नादीनां उत्पादकेभ्यः कृषकेभ्यः) अन्न उत्पन्न कर्त्ता कृषकों के लिये आदर सत्कार ।

४. सिंहादिक हिंसक जीवों का निवारण ।

५. मेघ, सूर्य्य, वनस्पति आदि को हवन जिससे वृष्टि हो ।

८. ओम् श्रियै नमः—

श्री—धन, प्रभुत्व, उन्नति, राजकीय शोभा, तेज, सौन्दर्य्य, सद्गुण, बुद्धि, दैवी-शक्ति, योग-शक्ति, धर्म, अर्थ, काम, यश, वक्तृत्व।

* अर्थ *

१. 'श्रीयते सेव्यते सर्वैर्जनैर्म्सः श्रीरीश्वरस्सर्व-सुख शोभा-वत्वाद् गृह्यते यद्वा तेनोत्पादिता विश्व शोभा च।'

(ऋषि दयानन्द)

जो सब के सेवा करने योग्य तथा जिसने जगत् की शोभा उत्पन्न की है उस परमात्मा को नमस्कार। उसकी ही सेवा से राज्य-श्री की प्राप्ति के लिये उद्योग करना चाहिये।

यहां एक बात विचारणीय है कि राज्य-श्री की प्राप्ति के लिये दो बातों की आवश्यकता है:—

(१) ईश्वर भक्ति, (२) प्रयत्न (उद्योग)। इनमें दोनों ही की अवश्यंभाविता समान है किन्तु पहिले ईश्वर-भक्ति फिर प्रयत्न। वर्त्तमान स्वराज्य आन्दोलन से इसकी तुलना करनी चाहिये।

२. राजकीय शोभा, सद्गुण, दैवी-शक्ति, योग-शक्ति, के लिये आदर, सत्कार तथा प्रयत्न।

३. तेज, सौन्दर्य के लिये अर्पण तथा हवन।

४. बुद्धि तथा धर्म के लिये भक्ति या पूजा।

५. यश और प्रभुत्व के लिये दान।

६. अ–अर्थ के लिये क्रमशः उद्योग तथा नियमन अथवा संरक्षण। वैदिक सभ्यता केवल संसार से विमुख होकर संन्यासी ही नहीं बनाती। उसमें त्याग के साथ साथ धन उपार्जन करने का भी आदेश है। तत्पश्चात् अपरिमित अथवा मुक्त हस्त से व्यय करने का उपदेश नहीं परन्तु नियमित रूप से उठाना योग्य है। राष्ट्रीय धन के नियमन अथवा संरक्षण से तात्पर्य कोषाध्यक्ष की नियुक्ति तथा राज-कोष का प्रजा के अधिकार में रहने इत्यादि से है।

आ–काम के लिये नियमन।

६. ओम् भद्रकाल्यै नमः—

भद्रकाली—(भद्र+काली)

भद्र—अच्छा, उत्तम, सुखद, मुख्य, अनुकूल, अग्रणी, दयालु, प्रिय, सुन्दर, प्रशंसा योग्य और बनावटी।

काली—कृष्णता, मसि, पार्वती, कृष्णमेघावलि, कृष्णवर्णा स्त्री, रात्रि, निन्दा, द्वेष, एक प्रकार की विद्या, एक छोटी झाड़ी, अग्नि की एक जिह्वा (लपट या जीभ)।

इस प्रकार भद्रकाली के अर्थः—

१. उत्तम है अथवा कल्याणकारक है कृष्णता जिसकी अर्थात् रात्रि क्योंकि वह जीवों को सुला कर उनका

उपकार करती है। श्रम इत्यादि का निवारण करके नये उत्साह तथा बल का सञ्चार करती है।

२. प्रिय, सुन्दर, कल्याणकारक मेघों की पंक्ति क्योंकि वह जल वर्षा कर लोकों का उपकार करती है।

३. काली अग्नि की एक जिह्वा का भी नाम है। अग्नि की मुण्डकोपनिषद् में सात जिह्वा अथवा लपटें बतलाई गई हैं:—

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता याच सुधूम्रवर्णा
स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः।

प्रथम मुण्डके द्वितीय खण्डः ॥

(१) काली, (२) कराली, (३) मनोजवा, (४) सुलोहिता, (५) सुधूम्रवर्णा, (६) स्फुलिङ्गिनी, (७) विश्वरूपी, यह अग्नि की सात लपटें हैं। काली, जीभ का ही नामहोने से काली देवी की इतनी लम्बी जीभ रक्खी जाती है।

त्रिदेव-निर्णय।

अतः भद्र काली का एक अर्थ कल्याणकारक अग्नि की एक लपट।

४. विविध भांति के फल, फूल, अन्नादि उगा कर भूतों का कल्याण करती है अतः पृथ्वी का नाम भी भद्र काली है।

* अर्थ *

'भद्रं कल्याणं सुखं कालयितुं शीलमस्याः
सा भद्रकालीश्वर शक्तिः।' (ऋषि दयानन्द)

१. सब प्राणियों का कल्याण करने की ही प्रकृति जिसकी है उस ईश्वर शक्ति के लिये नमस्कार ।

२. अ—काली मेघमाला के लिये हवन ।

आ—पृथ्वी के लिये शान्ति, तथा हवन जिससे वर्षा होकर वृक्षादिकों की वृद्धि हो । शान्ति की कामना मनुष्यमात्र के कल्याण के लिये है किसी देश-विशेष वासी के उपकार के लिये ही नहीं क्योंकि वैदिक सिद्धान्त विश्व-व्यापी होते हैं ।

३. प्रमुख अन्धकार अर्थात् अविद्या तथा अज्ञान का निवारण ।

४. रात्रि के वशीभूत होना अर्थात् सोना जिससे स्वास्थ्य को लाभ हो ।

५. काली नामक अग्नि-ज्वाला के लिये अन्न । अग्नि की काली ज्वाला हवन में अन्न या भोजन की आहुति डालने से होती है । इस अर्थ में यह वैज्ञानिक सम्बन्ध कथित है ।

६. भद्रकाली के एक अर्थ सुखदायक पार्वती के हैं । इसके यह अर्थ बड़े ही महत्त्व के हैं तथा इसमें एक विशेष वैज्ञानिक विज्ञप्ति है ।

पर्वते मेघे भवा पार्वती । पर्वतस्य मेघस्यापत्यं स्त्री पार्वती ॥

पर्वत नाम निघण्टु में मेघ का है । पर्वत अर्थात् मेघ में जो पैदा हो उसे पार्वती कहते हैं तात्पर्य विद्युत । अब इसके

अर्थ विचार कर यह देखना है कि यह बिजली सुखकारक कैसे बनती है :—

१. विद्युत के लिये मेघ गर्जना।

२. „ „ „ नियमन, बन्धन।

३. „ „ „ प्रतिबन्ध, मनाई, रोक।

पहले अर्थ से बिजली का स्वाभाविक सहचर ज्ञान होता है अर्थात् बिजली चमकने के पश्चात् मेघगर्जन अवश्य होता है।

दूसरे अर्थ से विद्युत के लिये बन्धन अर्थात् विद्युत को बांध कर रखना चाहिये। इससे यह सिद्धान्त कि विद्युत विद्युत-कुम्भ में (Electric cell) अथवा राशिकरणपात्र में एकत्रित की जा सकती है प्राप्त-ध्वनित होता है।

तीसरे अर्थ में विद्युत के लिये प्रतिबन्ध अर्थात् रोक इससे यह ज्ञान होता है कि विद्युत कोई हानि न कर सके अतः इसके लिये रोक बनाओ। पेड़, गृह तथा शालाओं पर बिजली के रोकने के लिये जो तार लगाये जाते हैं उसी प्रकार की किसी रोक का यह सूचक है। सम्भव है कि मन्दिर, शिवालय तथा विशाल भवनों के ऊपर कलशों के लगाये जाने का यह ही अभिप्राय हो कि बिजली उन पर न गिरे।

यदि उपरोक्त तीनों बातों को जान कर लोक विद्युत को उपयोग में लायें तो अवश्यमेव वह सुखदायक हो जायगी। वर्त्तमान युग में विद्युत की कार्य्यक्षमता वर्णनातीत है ही।

१०. ओम् ब्रह्मपतये नमः—

ब्रह्म—प्रशंसा, श्रुति, वेद, ओ३म, ब्राह्मण, योग, तप, पवित्रता, ज्ञान, मेधा या बुद्धि, महान्, अभ्युदय-सम्पन्न, व्यापक, बलवान, उच्च, पुष्ट, उपदेश-कर्त्ता, तेजस्वी, उद्यम-शील इत्यादि ।

पति—स्वामी, मूल, शासक, प्रभु, अधिकारी, पालनकर्त्ता ।

* अर्थ *

'ब्रह्मणः सर्वशास्त्र विद्यायुक्तस्य वेदस्य ब्रह्माण्डस्य वा पतिरीश्वरः'
(ऋषि दयानन्द) ।

१. सर्वविद्याविज्ञ तथा ब्रह्माण्ड के स्वामी परमेश्वर के लिये नमस्कार ।

२. वेद ज्ञानी, समाधिस्थ, उपदेशकर्त्ता, तेजस्वी तथा ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण के लिये आदर सत्कार और भोजन ।

३. योगी के लिये नियमन अर्थात् नियमाधीन होना ।

११. ओम् वास्तुपतये नमः—

वास्तु—गृह, शाला की आकृति, गृह निर्माण की भूमि, आकाश ।

* अर्थ *

'वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिंस्तद्वास्त्वाकाशं तत्पतिरीश्वरः'
(ऋषि दयानन्द)

१. संसार के स्वामी तथा सर्वाधार ईश्वर को नमस्कार ।

२. गृहपति के लिये सत्कार। वैदिक काल की संसृष्ट-प्रणाली (Joint family system) में कुलपति (Head of the family) के लिये अत्यन्त आदर था।

३. वास्तु विद्याविशारद, यन्त्रकार (Engineer) अथवा गृह इत्यादि के निर्माणकर्त्ता को पुरस्कार तथा संरक्षण।

१२. ओम् विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः—

विश्वेदेवा शब्द के अर्थ किये जा चुके हैं।

* अर्थ *

'विश्वेदेवा विश्वप्रकाशका ईश्वरगुणाः सर्वे विद्वांसो वा'

(ऋषि दयानन्द)

१. संसार को प्रकाशित करने वाले ईश्वर के गुणों के लिये नमस्कार तथा उनको ग्रहण करना।

२. विद्वान्, ब्राह्मण के लिये आदर सत्कार।

३. संसार के सब प्राणियों को सत्कार तथा भोजन।

उपरोक्त ग्यारह मन्त्रों में ईश्वर के पृथक् पृथक् गुण दर्शा कर अन्त में इस बारहवें मन्त्र में ईश्वर के सब गुणों को नमस्कार किया गया है। इसके पश्चात् ईश्वर सम्बन्धी अर्थ दो अगले मन्त्रों में नहीं आते, परन्तु फिर ईश्वर सम्बन्धी अर्थों की परम्परा को स्थिर रखने को १५ वें मन्त्र में 'परमात्मा सब में व्यापक है' ऐसा बतला दिया है। यह क्रम इस बात का द्योतक है कि इन मन्त्रों के सब से प्रथम ईश्वर परक ही अर्थ होते हैं।

इसके अतिरिक्त राजा, न्यायाधीश, धर्माध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, अटवी-पालक, मन्त्री, गृहाधिकारी, पुरोहित, नगराध्यक्ष, प्रदेष्टा, सभा-पालक, कारागृहाधिकारी, दुर्ग-रक्षक, रथी, द्वारपाल इत्यादि के प्रति पृथक् २ कर्त्तव्य बताने के उपरान्त सब को सत्कार, यह बहुवचन सूचक विश्वे-देवा शब्द यहां आया है। इसी भांति संसार के सब प्राणियों को भोजन अथवा सत्कार यह समवाय-स्वरूप में साकल्येन प्रयोग है। इसी अर्थ की विशेष पूर्ति के निमित्त आगे चार मन्त्र और आते हैं।

१३. ओम् दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः—

दिवाचर—दिन में चलने वाले।

भूत—प्राणी, तत्व, गतकाल, संसार, पुजारी, भक्त, पुत्र।

दिवाचर—दिवा+चर।

दिवा—दिन में, पक्षी विशेष, चाण्डाल।

चर—चलने वाले, जङ्गम।

दिव+अचरभूत=स्वर्ग में जो अर्थात् मोक्ष में जो चलायमान नहीं अर्थात् स्थिर होगये हैं वह मुक्त जन।

दिव+अचर+भूत=आकाश में स्थिर तत्व, पंचतत्व।

* अर्थ *

१. दिन में विचरण करने वाले पशु पक्षियों को अन्न।

२. *चलने-वाले चाण्डाल प्राणी को अन्न। नीच से नीच के प्रति भी हमको दया से द्रवीभूत हो कर उसे भोजन देना चाहिये यह ही शिक्षा यहां दी गई है।

* राजार्य्य सभा के आदेश से कृत-पाप-कर्मों के प्रायश्चितार्थ वन में निर्वासित चाण्डाल संज्ञक विचरण करने वाले प्राणी॥

३. मुक्त जनों को शान्ति। सांसारिक दुःखों से छूट कर परमानन्द को प्राप्त करने वाले आप्त पुरुषों को ही सच्ची शान्ति प्राप्त होती है। सांसारिक सर्व व्यक्तियों के प्रति कर्त्तव्य निदर्शन पश्चात् मुक्तात्माओं के प्रति कथन करना कितना सुघटित है।

४. पञ्च तत्वों के लिये जिनसे कि संसार निर्मित है तथा समस्त प्राणियों के शरीर बने हैं हवन जिसके द्वारा प्रत्येक तत्व शुद्ध तथा उत्तम अवस्था को प्राप्त होकर सृष्टि में पर्याप्त-प्रमाण में वर्त्तमान रहे।

१४. ओम् नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः—

नक्तंचारी—दुराचारी, रात्रि में विचरने वाले।

* अर्थ *

१. दुराचारी के लिये प्रतिबन्ध। हीन से हीन यहां तक कि चाण्डाल इत्यादि के प्रति भी दया दर्शाने का निर्देश इन मन्त्रों में किया है परन्तु दुराचारी के लिये तुरन्त प्रतिबन्ध (रोक) करनी चाहिये उसके साथ क्षमा का व्यवहार न करते हुए उचित दण्ड देना ही दया है। वस्तुतः वैदिक-अहिंसा का यही यथार्थ स्वरूप है।

२ रात्रि में विचरने वाले पक्षियों तथा जीवों के लिये अन्न तथा भोजन। तात्पर्य यह है कि रात्रि में चलने वाले प्राणियों से भी उपकार लेना चाहिये तथा उनको सुख देना चाहिये।

विचार्य विषय यह है कि रात्रि और दिन में भ्रमण करने वाले जीव दो प्रकार के होते हैं। एक मनुष्य को लाभदायक, दूसरे हानिकारक। एवं इन दोनों प्रकार के साथ नमः शब्द के भी द्विधा अर्थ प्रयुक्त होंगे। (१) अन्न तथा (२) दूरीकरण। यथा मक्खी, बर्र इत्यादि दिवाचरों का दूरी करण तथा काक, श्वान आदि को अन्न दान। मच्छर, आदि रात्रिञ्चरों के निवारण और बिल्ली आदि को अन्न की व्यवस्था करनी उचित है।

३. रात्रि में विचरने वाले प्रहरीगण (Sentinels) तथा निशि-निरीक्षकों को उचित सन्मान तथा दान, पुरस्कार आदि।

४. निशि-चर, चोर, घातक, सिंह, व्याघ्र आदि को प्रतिबन्ध।

१५. ओम् सर्वात्मभूतये नमः—

सर्वात्मभूत—सर्व+आत्म+भूत।

सर्व—सब, सम्पूर्ण, विष्णु।

आत्म—आत्मा, सत्व, प्रकृति, आचार व्यवहार, पुरुष, शरीर, विचारशक्ति, जीवन, पुरुषार्थ, आकृति, प्रतिकृति।

भूत—पूर्वोक्त अर्थों के अतिरिक्त पैदा हुआ, अस्तित्व वाला, सत्य, उचित, योग्य, मिश्रित, समान होना आदि भी हैं।

सर्वात्मभूत के अर्थ पूर्णतया, भली भांति, विश्वव्यापी-दिव्यात्मा, सब आत्माओं में अस्तित्व वाला, सर्व प्राणी,

सर्व अर्थात् परमात्मा उसके आत्मभूत किंवा उसकी प्रतिकृति जो हैं, तात्पर्य उसी के समान जो अपना आचरण बनाते हैं उनवा जिनके मन में केवल उसी का ध्यान है एवं ज्ञानी योगी जन। सच्ची सत् और असत् के विचारने की शक्ति अथवा वास्तविक विवेक जिनके हृदय में है ऐसे धर्मात्मा, पुरुषार्थ करने वाले।

* अर्थ *

'सर्वेषां जीवात्मनां भूतिः भवनं सत्तेश्वरः'।

(ऋषि दयानन्द)

१. सर्व व्यापक परमात्मा को नमस्कार।

ईश्वर—सम्बन्धी अर्थ-तारतम्य के क्षणिक विच्छेद की पूर्ति यहां हुई है।

२. ज्ञानी, मुमुक्षु, परमेश-प्रिय तथा विवेकी सज्जनों को आदर और सत्कार।

३. सब प्राणियों पर दया। भाव यह है कि बड़ों को नमस्कार, समान को सत्कार, छोटों पर दया—विस्तार यही वैदिक—प्रतिष्ठित आचार है।

४. पुरुषार्थ-शील स्वेच्छासेवकों (Volunteers) के लिये सन्मान, पुरस्कार इत्यादि।

राष्ट्र के स्वयं सैनिकों के उपयोग के विषय में वेद-भगवान् कहते हैं:—

राष्ट्रभृतो ह्यक्षः ।

'राष्ट्र सेवक ही राष्ट्र के नेत्र हैं ।' विना इनके राज्य का कार्य्य संचालित होना दुस्तर है ।

१६. ओम् पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः—

पितृभ्यः—माता, पिता, आचार्य्य, अतिथि के लिये ।

स्वधायी—भृत्य, स्त्री, कुटुम्बी ।

स्वधा—अर्पण, हवन, स्वावलम्बन, हव्य देने का उपयोगी वाचक शब्द ।

मन्त्र के अर्थ करने से पूर्व पितृ शब्द के अर्थों का विशेषतया मनन करना उचित है । पितृ किन २ की संज्ञा है इसका ज्ञान होने के पश्चात् सूत्र के अर्थों का गौरव स्वयमेव विकसित होगा ।

वैदिक-विज्ञान-प्रकाशक महर्षि दयानन्द अपनी पञ्चमहायज्ञ विधि में लिखते हैं:—

अथ पितृणां परिगणनम् ।

येषां पितृसंज्ञा ये सेवितुं योग्याश्च ते क्रमशो लिख्यन्ते:—
सोमसदः । अग्निष्वात्ताः । बर्हिषदः । सोमपाः ।
हविर्भुजः । आज्यपाः । सुकालिनः । यमराजाश्चेति ॥

सेवा करने योग्य निम्नलिखित पुरुषों को पितृ कहते हैं:—

१. सोमसदः—ईश्वर के ज्ञान तथा सोमयज्ञ में निपुण और शान्त्यादि गुण सहित पुरुष ।

२. अग्निष्वात्ताः—अग्नि जो परमेश्वर तथा भौतिक अग्नि इनके गुण ज्ञात करके जिनने अच्छी प्रकार अग्नि-विद्या अर्थात् पृथ्वी, जल, व्योमयान आदि की रचना सम्बन्धी पदार्थ-विद्या का ज्ञान प्राप्त किया हो।

३. बर्हिषदः—सब से उत्तम परमेश्वर में स्थिर होके शम, दम, सत्य विद्यादि उत्तम गुण जिनमें वर्त्तमान हैं।

४. सोमपाः—जो यज्ञ करके सोम लतादि उत्तम २ औषधियों के रस को पान करने तथा कराने वाले तथा जो *साम विद्या* जानते हैं।

५. हविर्भुजः—जो अग्निहोत्रादि यज्ञ करके वायु और वृष्टि, जल की शुद्धि द्वारा सब जगत् का उपकार करते और जो यज्ञ से अन्न जलादि को शुद्ध करके खाने पीने वाले हैं।

६. आज्यपाः—आज्यं घृतं। यद्वा अज् गतिक्षेपणयोर्धात्वर्थादाज्यं विज्ञानम्। आज्य के अर्थ घी तथा विज्ञान के हैं। अतः आज्यपः वह लोक जो घृत किंवा विज्ञान के दान से रक्षा करते हैं।

७. सुकालिनः—जिनका श्रेष्ठ समय ईश्वर और सत्य विद्या के उपदेश ही में जाता है अथवा जो सदा उपदेश करते हैं।

८. यमराजाः—जो पक्षपात को छोड़ कर सत्य न्याय करते हैं।

* अर्थ *

१. माता, पिता, पितामह, अतिथि, तथा उपरोक्त गुणयुक्त आठ प्रकार के सज्जनों को आदर, सत्कार, भोजन तथा नम्रता-पूर्वक व्यवहार।

२. स्वात्म आधीन स्त्री, कुटुम्बी, भृत्य इत्यादिकों पर दया तथा उनके लिये भोजन तथा जीवन निर्वाह की व्यवस्था।

३. स्वावलम्बन करते हुये अपने लिये भोजन, वस्त्र तथा प्राण-यात्रा का प्रबन्ध। विश्वसाम्राज्य के स्वामी, राष्ट्र के अङ्ग प्रत्यङ्ग के प्रति, तथा समस्त प्राणि-वर्ग के सम्बन्ध में मनुष्य के कर्त्तव्य का ज्ञापन करने के उपरान्त जगदनुरूप गृह-संसार की सचेतन-सृष्टि माता, पिता, स्त्री तथा आश्रित जनादि के पालन पोषणार्थ मानवी धर्म का निरूपण करना कितना न्याय-सम्मत क्रम—अनुकूल है यह विचारशील पाठक स्वयमेव समझ लेंगे।

यह प्राक्कथित षोडश मन्त्रों की अर्थ-विवेचना है।

इसके पश्चात्:—

शुनाञ्च पतितानाञ्च श्वपचां पाप रोगिणाम्।
वायसानां कृमीणाञ्च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥ मनु०॥

कुत्ता, पतित, चाण्डाल, पाप रोगी, काक, तथा कृमि कीट आदि के निमित्त ६ भाग क्रमशः निम्न प्रतीकों का पाठ करते हुए धीरे से भूमि पर रखदे पश्चात् उनको खिलादे:—

* अथ प्रतीकानि *

१. श्वभ्यो नमः—कुत्तों को अन्न ।

२. पतितेभ्यो नमः—पतितों के प्रति दया तथा अन्न ।

३. स्वपग्भ्यो नमः—चाण्डाल या कुष्टी के प्रति दया तथा अन्न ।

४. पापरोगिभ्यो नमः—बुरे रोगों से ग्रसितों के प्रति दया तथा भोजन ।

५. वायसेभ्यो नमः—कौवों को अन्न ।

६. कृमिभ्यो नमः—कीड़ों को अन्न तथा उनके प्रति दया आदि । धीरे से रखने का प्रयोजन यह है कि कृमि आदि के भोजन में मट्टी न लगे ।

इससे उद्देश्य यह है कि मनुष्य सब को बांट कर फिर स्वयं भोजन करे तथा जिस महान् जड़ जङ्गम विधान का वह प्रधान अभिनेतृ है उसके प्रमुख तथा तुच्छ तृण-प्राय दोनों भांति के अवयवों के प्रति दया भाव हृदय में धारण करे । केवल स्वयमेव निज उदर-पूर्त्ति मात्र को करता हुवा मनुष्य स्वार्थी न बन जाय उसका ही यह प्रतिबन्ध है । बौद्धों में मुख-बन्धन प्रथा तथा पिपीलिका, कृमि, कीटादि को अन्न देने की जैन-प्रणाली उसी वैदिक भाव के अपभ्रंश हैं । अब भी बहुत से गृहों में वृद्धा स्त्रियां अपने भोजन में से पहले कुछ अग्नि में डालती हैं, जिसे अग्नि जिमाना या भोग लगाना कहते हैं, और फिर कुछ ग्रास निकाल कर भूमि पर रखती हैं, तत्पश्चात् जल के छींटे देकर, हाथ जोड़ भोजन करती हैं । यह भी एक प्रकार से भूतयज्ञ का ही परिभ्रष्ट स्वरूप है ।

✻ विशेष-व्याख्या ✻

अब इस यज्ञ की कतिपय आवश्यक बातों पर विचार करना अवशिष्ट है। सबसे प्रथम एक शङ्का यह होती है कि भूत-यज्ञ तो प्राणियों के लाभार्थ है फिर इसके मन्त्रों के ईश्वर परक अर्थ भी क्यों निकलते हैं? उत्तर स्पष्ट है कि पवित्र वेद-चतुष्टय का प्रत्येक मन्त्र प्रत्यक्ष अतवा परोक्षरूप से उस ही आदि-देव के यश का बखान करता है। अतः प्रत्येक मन्त्र में ईश्वर-परक अर्थ का सूक्ष्म तारतम्य विद्यमान है।
उसी के अनुरूप यह वैदिक वाक्यों का अर्थ-वैचित्र्य है उक्त सूत्रों के सब अर्थ निम्नलिखित तीन भागों में विभक्त किये जा सकते हैं:—

(१) ईश्वर सम्बन्धी—जिनमें परमात्मा के गुणों का कीर्त्तन होता है।

(२) भौतिक—जिनमें पञ्चभूत सम्बन्धी आख्यान होता है। इसके अतिरिक्त जिस२ यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र होते हैं उनमें उसी यज्ञ के लाभों की विवेचना होती है, यथाः— हवन मन्त्रों में अग्निहोत्र के गुण सम्बन्धी, तथा भूतयज्ञ के मन्त्रों में भूतयज्ञ के उपकार सम्बन्धी वर्णन हैं।

(३) विविध भांति की शिक्षा सम्बन्धी—जिसमें कर्त्तव्य, विज्ञान तथा धर्म का वास्तविक उपाख्यान होता है जिससे सत्ज्ञान का बोध हो।

इन तीन प्रकार के अर्थों से तीन ही प्रकार का लाभ होता है:—

(१) ईश्वर के कौन २ गुण हैं इसका चिन्तन करते हुए तथा उनकी स्तुति करते हुए उनको अपने में धारण करने के लिये प्रयत्न करना। इससे आत्मिक उन्नति होती है।

(२) भौतिक तत्वों का विश्वसमवाय में साम्यावस्था में रखने का आयोजन इससे मनुष्य शरीरवर्ती उनके अंशों की उत्तम व्यवस्था रहती है तथा शारीरिक उन्नति होती है। इसके अतिरिक्त भूतयज्ञ के लाभ-निदर्शन में, समाज तथा राज्य सम्बन्धी ज्ञान, उनके प्रति अपना कर्त्तव्य, राज्य इत्यादि के गुणों का समीकरण और सर्व भूतों के प्रति सत्कार अथवा दया भावना धारण करने की शिक्षा का उद्घाटन होता है। इससे संसर्गात्मक सामाजिक-शास्त्र का ज्ञान होता है।

(३) नाना प्रकार के उपदेश, वैज्ञानिक शिक्षा, लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण-प्राप्ति के साधनों पर विचार करते हुए धर्म मार्ग पर विचरण करने की धारणा से मनुष्य की धार्मिक उन्नति का विकास होता है।

यह ही सूक्ष्म रूप से बलिवैश्वदेव यज्ञ के अर्थों, भावों तथा उससे होने वाले लाभों का प्रकाशन है। मननशील पाठक इस पर अधिक स्पष्टतया विचार कर सकते हैं।

भूतयज्ञ के ईश्वर परक भी अर्थ क्यों होते हैं?

प्राक्कथन में ईश्वर-विषयक अर्थों की पुष्टि में एक आध प्रमाण यत्र तत्र दिया जा चुका है। उनके अतिरिक्त निम्नलिखित कारण इस प्रस्ताव को प्रमाणीकृत करते हैं कि भूतयज्ञ के मन्त्रों के ईश्वर-परक अर्थ अवश्य होते हैं:—

१. कोई भी वैदिक यज्ञ ईश्वर सम्बन्धी भावों को लिये बिना प्रारम्भ नहीं होता।

२. पहले परमात्मा की स्तुति फिर अन्य भूतों का सत्कार इससे अर्थों की संगति भी उत्तमता पूर्वक लग जाती है।

३. बलि-वैश्व-देवयज्ञ के अर्थ ही उस शुभ कर्म्म के हैं जिसमें कि जगत् के स्वामी परमात्मा की पूजा या आराधना की जाती है।

४. भोजन के समय जगदाधार के प्रति कृतज्ञता प्रकाश करना कितना स्वाभाविक है। अतः मन्त्रों के ईश्वर सम्बन्धी अर्थों का होना आवश्यक ही है। वेद में भी कहा है:—

> यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः।
> तमाहुतमशीमहि ॥ अथर्व० १३-१-६० ॥

जो यज्ञ अर्थात् सत्कर्म्म का साधन तन्तु देवों में फैला है उसके लिये दान करने के पश्चात् हम सब मिल कर अन्न ग्रहण करते हैं। यह 'विश्व व्यापक-तन्तु अथवा सूत्रात्मा' परमात्मा ही है। (सर्वमेध पृष्ठ ६३)

५. यदि ईश्वर सम्बन्धी अर्थ होते हैं तो सानुग शब्द चार बार क्यों प्रयुक्त हुआ है ? परमात्मा के अनुचर तो एक से ही होते हैं। यह शङ्का भी निर्मूल है, क्योंकि सानुग शब्द के चार बार आने से परब्रह्म के चार प्रकार के विशेष गुण-युक्त अनुयायियों से तात्पर्य है। यह अर्थ देखने से सुष्ठु रूपेण प्रकट हो सकता है।

६. आहुतियां देवता अर्थात् दिव्य पदार्थ के उपकारार्थ दी जाती हैं परन्तु प्रत्येक देवता (अग्नि, वायु आदि) में जो जो सामर्थ्य हैं वह परमात्मा में सर्वोपरि विराजमान हैं। इस हेतु से हवन मन्त्रों के भी ईश्वर परक अर्थ होते हैं। वेद भगवान् दिव्य-स्वर द्वारा विश्व में निर्घोषित करते हैं:—

"यो देवानां नामधा एक एव।"

वह अन्य देवों का नाम धारण करने वाला एक ही देव है।

पुनः—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

यजु० अ० ३२ मं० १॥

वह परमात्मा ही निश्चय से अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आप, प्रजापति है अर्थात् इन शब्दों से अवश्यमेव उसका ग्रहण होता है।

इसी भाव को एक भाषा के कवि ने निम्नलिखित पद्य में कितनी उत्तमता-पूर्वक व्यक्त किया है:—

*** मन्दाक्रान्ता छन्द ***

ताराओं में, तिमिर-हर में, वन्हि में, औ शशी में ।
पाई जाती परम रुचिरा ज्योतियां हैं उसी की ॥
पृथ्वी, पानी, पवन, नभ में, पादपों में, खगों में ।
देखी जाती प्रथित-प्रभुता विश्व में व्याप्त की है ॥१॥

प्यारी सत्ता जगत-गत की नित्य लीलामयी है ।
स्नेहों-सिक्ता, परम-मधुरा, पूतता में पगी है ॥
ऊँची-न्यारी-सरल-सरसा, ज्ञान-गर्भा, मनोज्ञा ।
पूज्या, मान्या, हृदयतल की रञ्जिनी, उज्ज्वला है ॥२॥

(प्रिय प्रवास)

७. आचार्य्य दयानन्द के अतिरिक्त अन्य आचार्य्य भी परमात्मा की प्रसंन्नता के लिये इस यज्ञ को मानते हैं और यह उचित ही है क्योंकि विश्व-प्रेम से ही परमात्म-प्रेम हो सकता है । जो पुरुष समस्त प्राणिमात्र से प्रेम करेगा उससे परमात्मा क्यों प्रसन्न न होगा ?

इस प्रसङ्ग की परिपुष्टि के यह कतिपय प्रमाण हैं ।

दूसरी एक बड़ी शङ्का जो कि बलि-वैश्व-देवयज्ञ के विषय में उठती है उस पर अत्यन्त विचार करने की आवश्यकता है । वैदिक धर्म्म को दोष देने के लिये उसके वृथा छिद्रान्वेषी जन यह कह कर उपहास उड़ाते हैं कि यह जो कुछ तुम कहते हो

वह तो सत्य है, इस यज्ञ से यह मान भी लिया कि लोकों का महान् उपकार होता है परन्तु यह तो बताइये कि इस मन्त्र से उत्तर, इससे पूर्व की ओर तीसरे से उलूखल मूसल, चौथे से द्वार की ओर इससे क्या अभिप्राय है ? देखने में तो यह प्रश्न बड़ा ही भ्रमोत्पादक है परन्तु विचार करने से भ्रान्ति की ग्रन्थि खुल जाती है और वास्तविक तत्व का विकास होता है।

इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व यह अत्युत्तम होगा कि प्रथम कतिपय विद्वानों की सम्मति उद्धृत करके यह देखें कि इस विषय पर उन्होंने क्या क्या प्रकाश डाला है ? तदुपरान्त इसका स्पष्टीकरण करने का उद्योग करना उचित होगा।

भूतयज्ञ तथा दिशा सम्बन्ध के विषय में कतिपय विद्वानों

की

* सम्मति *

भूतयज्ञ की विशेष व्याख्या जिसमें तत्सम्बन्धी शङ्काओं का निर्मूलन किया गया हो अद्यावधि किसी अन्य ग्रन्थ या पुस्तक में दृष्टिगोचर नहीं हुई। स्वामी दयानन्द रचित पञ्च-महायज्ञ विधि में ही केवल मन्त्रों वा सूत्रों के ईश्वर-परक सम्पूर्णार्थ तथा किञ्चित् मात्र अन्य अर्थों की झलक है। अन्य और किसी पुस्तक में उन मन्त्रों तथा सूत्रों के अर्थ भी प्राप्त नहीं हुए। हां, इस यज्ञ के सिद्धान्तों की कुछ व्याख्या पं० तुलसीराम कृत मनुस्मृति की टीका तथा उससे अधिक पं० भीमसेन तथा पं० आत्माराम जी कृत संस्कार-चन्द्रिका में

की गई है। इन्ही दोनों पुस्तकों से उपरोक्त प्रश्न के विषय में इन्हीं सज्जनों की सम्मति संक्षेपतया उद्धृत की जाती है। तत्पश्चात् स्वतन्त्रता पूर्वक इन दिशाओं तथा उलूखल मूसल और द्वार आदि के सम्बन्ध में विचार किया जायगा।

पं० तुलसीराम स्वामी अपनी मनुस्मृति की टीका अ० ३ श्लोक ६१ के पश्चात् लिखते हैं:—

" अब यह जानना शेष रहा कि इन २ इन्द्रादि का उस २ पूर्व दिशा आदि से क्या सम्बन्ध है............। हम निश्चय यह विश्वास करते हैं कि यह आधुनिक कल्पना नहीं है किन्तु बहुत कुछ यह सम्बन्ध वेदों में भी देखा जाता है। उदाहरण के लिये सन्ध्या में मनसा-परिक्रमा के मन्त्रों को देखिये, जिनमें पूर्व दिशाओं के साथ विशेष नाम एक प्रकार के क्रम से आये हैं। जो वेदों के अन्य मन्त्रों में भी उसी क्रम से पाये जाते हैं। इस लिये हम अनुमान करते हैं कि इन्द्र का पूर्व दिशा से, यम का दक्षिण से, वरुण का पश्चिम से, सोम का उत्तर से, वायु का द्वार (द्वार से होकर आने से) से, जल का जल से साक्षात् ,वनस्पति का (काष्ठमय वृक्षजन्य) उलूखल मूसल से, ऊपर का लक्ष्मी से, पृथ्वी का भद्रकाली पृथ्वी से, वेद-वेत्ता पुरोहितादि और गृह-पति का गृहमध्य से और सब सामान्य देवताओं और दिन में तथा रात्रि में विचरने वाले सब प्राणियों का आकाश से कुछ न कुछ विशेष सम्बन्ध है। सर्वात्मभूति का पृष्ठ से तथा पितरों का दक्षिण

से भी। जैसे इन्द्र, वरुण, यमादि तत्वों के विशेष नाम हैं वैसे ही यहां बलिवैश्वदेव में पितर पद का भी एक प्रकार के आकाशगत तत्वों से ही अभिप्राय है। वायु कोण में जल भरा घड़ा रखना, वहीं स्नान-गृह और मोरी रखना, अग्निकोण में वनस्पति शाकादि, ऊखल, मूसल आदि रखना, ईशान कोण में लक्ष्मी (धन), नैऋत्य में स्त्री पुरोहितादि, वेदपाठियों वा वेद-पाठ, और गृहपति का मुख्यतः बीच में तथा यज्ञशाला विश्वेदेवाः से विशेषतः अग्नि, वायु, सूर्य्य का प्रायः आकाश दिवाचर मक्खी और रात्रिचर दंश मशकादि जो निकृष्ट मलिन कारण से उत्पन्न होते हैं उनका अपने विरुद्ध, शुद्ध धूम से ऊपर को उड़ने से आकाश, सब प्रकार का अन्नादि रखने का मकान के पृष्ठ भाग से सम्बन्ध रखना झलकता है।"

यह पण्डित जी की इस विषय में सम्मति है। यह सम्बन्ध आधुनिक नहीं है यह उनका कथन ठीक है और जिन २ देवों का उन्हों ने जिस २ दिशा से सम्बन्ध दर्शाया है वह भी एक प्रकार से सत्य है। ऐसा सम्बन्ध क्यों है इसका कारण तथा स्पष्टीकरण कुछ अधिक संतोष-जनक नहीं है।

अब संस्कार चन्द्रिका में इस शङ्का का कुछ अधिक समाधान है उसे भी अवलोकन करना आवश्यक है। गृहस्था-श्रम संस्कार के पश्चात् अन्तिम परिशिष्ट भाग की व्याख्या करते हुए इस विषय में लिखा है। उसका संक्षेपतः विवरण

यह है:—

"इन मन्त्रों के दो अर्थ होते हैं एक तो ईश्वर के गुणों के सूचक दूसरे विशेष गुण वाले मनुष्यों या पदार्थ के बोधक। यह यज्ञ नागरिक के धर्म बताता है कि राजा व शासक व शासक-वर्ग को कर देना प्रजा का कर्त्तव्य है और सुप्रबन्ध के लिये आवश्यक है। पुराने समय में ऋषि लोग 'बलिवैश्वदेव-कर्म' द्वारा सब देव-कोटि के मनुष्यों से लेकर अधम से अधम कीट पर्य्यन्त को बलि (अन्न भाग) देना अपना नागरिक व प्रजा-धर्म मानते थे।

सब दिशाओं में तेजस्विनी दिशा पूर्व है इसी प्रकार सब वर्णों में राज-वर्ग या क्षत्रिय वर्ण तेजस्वी है। उसके लिये भाग रखना मन में उनको बतला रहा है कि हम सब राजकर को प्रसन्नता से देवें। यह छोटा सा अन्न का भाग राजा के पास कर का काम नही दे सकता परन्तु होमाग्नि में उसे आहुत करने से प्रतीत होता है कि राजा के लिये प्रजा का क्या कर्त्तव्य है यह भाव उनके हृदय में अंकित रहे।

पूर्व के पीछे दूसरी दिशा दक्षिण है। राजा के पीछे यम या न्यायाधीश लोग हैं। फिर सदाचारी विद्वान् व वरुण लोग हैं जो धर्मशास्त्र (Law) निर्माण करते हैं। फिर शान्ति आदि गुण-युक्त उपदेशक हैं जो विद्या, धर्म का प्रचार करते हैं। जिस प्रकार चार दिशायें समस्त पृथ्वी को वश में रखती हैं उसी प्रकार उपरोक्त चारों वर्ग के प्राणी समस्त प्रजा का

कल्याण करते हैं। उनको बलि देना प्रत्येक नागरिक का धर्म है। 'ओं मरुद्भ्यो नमः' । कह कर दर्शाना है कि वायु बड़ी दिव्य गुण युक्त और लाभकारी है। ऐसी उपयोगी वायु को गृह में लाने का साधन द्वार है।

जल का महत्व कोई भूल न जावे और ग्राम के कूप तड़ागादि की रक्षा करनी प्रत्येक गृहस्थ का धर्म है और उसके निमित्त पंचायत या म्यूनिसपेल्टी को बलि देना प्रत्येक का धर्म है। इसको चिन्तन करता हुवा जिस ओर पीने का स्वच्छ जल रक्खा हो उस ओर छटा भाग रक्खे।

फिर वनस्पति का महत्व चिन्तन करना है। ऊखल मूसल अन्न को खाने योग्य बनाने के प्रथम साधन हैं उनको विचार करते हुये यह भाग जिस ओर ऊखल मूसल गृह में रक्खे हों उस ओर पत्तल पर वह रक्खे। बलि-वैश्व-देव यज्ञ के लिये गृहस्थ के पदार्थों का नियम (order) से नियत स्थान पर रखने का स्वभाव डालना चाहिये।

जिस प्रकार दिशाओं में ईशान दृढ़ता और तेज के लिये है उसी प्रकार गृह में धन यश, तेज के कारण है।

दक्षिण और पश्चिम दोनों दिशायें तमोयुक्त हैं और इनकी मध्यवर्तिनी दिशा नैऋत्य भी वैसी ही है। अतः इस ओर रात और निद्रा का चिन्तन करते हुये भाग रक्खे।

गोलाकार में केन्द्र स्थान उसका आधार और मूल व नाभि समझी जाती है। वेद के प्रकाशक, इञ्जीनियर वा सर्वाधार ईश्वर का चिन्तन करते हुये पत्तल के मध्य में भाग रक्खे।*

भौतिक दिव्य पदार्थ अग्निमय होते हैं और अग्नि का स्वभाव ऊपर जाने या रहने का है इस लिये दिव्य तेज सूर्य्य की रश्मि तथा बिजली का महत्व चिन्तन करे और बिजली के आघात से स्थान को सुरक्षित रक्खे।

उल्लू, व्याघ्रादि रात के हिंसक जीवों से बचे और उन जीवों का चिन्तन करता हुआ और यह सोच कर कि अग्नि की ज्वाला के दर्शन से यह जीव उस गृह के निकट नहीं आते दृढ़ व्रती होवे और इस भाग को पत्तल के मध्य में ज़रा ऊपर से छोड़ कर रखदे। कारण कि यदि दो भाग ऊपर फेंके जावें तो पत्तल के मध्य में किसी स्थान पर पड़ेंगे ही।

जिस प्रकार शरीर में सर्व क्रियाओं का आधार रीढ़ की हड्डी है उसी प्रकार सृष्टि की पीठ ईश्वर है। अतः सर्वात्मा का चिन्तन करता हुआ पत्तल के पृष्ठ में यह भाग रक्खे।

* परमेश्वर विश्व की नाभी है इस आशय का एक मन्त्र वेद में आया है:—

विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य कवेश्चित्तन्तुं मनसा वियन्तः।

ऋ० १०।५।३॥

चराचर जगत् की नाभि अर्थात मध्य में रहने वाले सूत्र को कवि के मन से पृथक् अनुभव करते हैं। तात्पर्य विश्व व्यापक परमात्मा को दिव्य दृष्टि से देखना उचित है।

—लेखक

पूर्व दिशा (Positive) या तेज प्रधान है। दक्षिण दिशा (Negative) वा तेज प्रधान नहीं। सृष्टि के अन्दर वह ज्ञानी लोग जो विशेष कर्म्म-काण्डी हैं पितृ नामक हैं। तेज ज्ञान का चिह्न है इसलिये पूर्व दिशा ज्ञान की सूचक है। कर्म करने में ज्ञान प्रधान नहीं होता इस लिये दक्षिण दिशा कर्म काण्ड की सूचक है। अनेक विद्या, यज्ञ, शिल्प और राज्य प्रबन्धादि अनेक कार्य्यों में जो अनुभव रखते हैं उन पितृ लोगों के लिये भाग हो यह चिन्तन करना हुआ दक्षिण में उसे रक्खे।

कुत्ते से बढ़ कर न कोई चौकीदार हुआ है और न होगा। स्वामी भक्ति में कुत्ते से बढ़ कर कोई प्राणी नहीं। कुत्ता होने से बन्दर, शृगाल, और प्राणी तथा चोर नहीं आ सकते। कुत्तों का भी हमारे अन्न में भाग है अतः उसको भोजन धर कर पुराने आर्य्य लोग अपना भोजन करते थे।

जो मनुष्य दुराचार से पतित हो गया है उस से सहानुभूति करनी तथा उसको अन्न देना आज भी Reformatory (पतितोद्धारक) संस्था का कार्य्य समझा जाता है। पापरोगियों के लिये Hospital आज कल बनगये हैं उनमें जो असाध्य रोगी आते थे उनको अन्न देना प्रत्येक गृहस्थ का धर्म था और अब भी राज-कर द्वारा यह भाग प्रजा देती है।

काक शुद्धी कारक पक्षी है। यदि कौओं को रोज़ अन्न भाग मिलता रहे तो वह घर पर बिना सङ्कोच आने लगते हैं और अनेक प्रकार के अशुद्ध पदार्थों को भक्षण कर नष्ट कर देते हैं।

चींटी और मकोड़े जिस भूमि में होते हैं वहां रेंगने वाले विषैले छोटे छोटे कीड़े बिल बनाकर कम रहते हैं। इस के अतिरिक्त सूक्ष्म मल के अणुओं को यह जीव खाकर नष्ट कर देते हैं। जिस से मलिनता बढ़ने नहीं पाती। अतः ऐसे उपयोगी जन्तुओं को अन्न भाग देना पुराने आर्य्य अपना धर्म समझते थे।

(संस्कार-चन्द्रिका पृष्ट ६८५-६६०)

यह स्पष्टी-करण अच्छा है तथा शङ्काओं का कुछ कुछ समाधान करता है। अब इस से अधिक जो कुछ इस दिशा सम्बन्धी विषय में स्वमननोपरान्त निश्चित् किया है वह लिखा जावेगा—

दिशा सम्बन्धी परिशीलन तथा अनुसंधान।

इस गम्भीर-गवेषणा में प्रविष्ट होने से पूर्व तीन बातें स्मरण करनी योग्य हैं:—

१. वैदिक कृत्य प्रायः साङ्केतिक हुवा करते हैं, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। कर्म से तद्गत भाव की ओर संकेत करना ही विशेपतया उनका अभिप्राय होता है। जिस भांति इन्द्रिय-स्पर्श किंवा मार्जन मन्त्रों में केवल अङ्गों के स्पर्श करने अथवा जल के छींटे देनेमात्र से वह अंग विशेष बलवान् अथवा शुद्ध नहीं हो जाते परन्तु वह कृत्य उस ओर सङ्केत करते हैं, अथवा यों कहिये कि संध्या करने वाले को सचेत करते हैं कि इन २ प्रमुख अङ्गों को बलवान या शुद्ध रखना चाहिये और एतदर्थ

ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये उसी भांति इन सूत्र व मंत्रों के साथ साथ बलि रखने का भी तात्पर्य है। एक बालक को गुरू समझाता है कि " वत्स ! पृथ्वी गोल है, परन्तु दोनों सिरों पर चपटी है। केवल इतना कहने से बालक भली प्रकार नहीं समझता। पुनः गुरु उसके आगे एक नारंगी रख कर कहता है " देखो ! पृथ्वी इस नारंगी की भांति है।" बालक तुरन्त जान जाता है और नारंगी की आकृति को देख कर पृथ्वी के रूप का अनुमान कर लेता है। इसी प्रकार पहले सूत्र में कहा गया है कि 'इन्द्र को नमस्कार' ऐसा कह कर पूर्व में भाग रक्खे। इस से दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं। पहला यह कि 'इन्द्र परमात्मा को मुझे सर्वदा नमस्कार करना चाहिये, इस भाव को यज्ञ कर्त्ता सम्यक्तया अपने हृदयाऽङ्कित करले' तथा यह विचारे की 'मुझे इन्द्र अर्थात् राजा का भी आदर सत्कार करना और कर (Tax) देना चाहिये।' दूसरा आशय यह कि वह परमात्मा कैसा है कि पूर्व-दिशा के समान प्रकाशस्वरूप और तेज-युक्त अथवा वह राजा जिसको कि तुम कर दो कैसा होना आवश्यक है पूर्व-दिशा के समान तेज-युक्त तथा प्रजापालक। इसी अर्थ को वेद भगवान् एक मन्त्र में प्रकाशित करते हैं:—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।

'ब्रह्मचर्य और तप द्वारा राजा राष्ट्र का विशेष प्रकार से रक्षण करता है' इसी भांति अन्य सूत्रों तथा दिशाओं में बलि रखने का आशय समझना चाहिये। विवाह-संस्कार के समय युगल वर-वधू को सूर्य्य तथा ध्रुव दर्शन करा के अचल व्रती रहने का निर्देश भी इसी साङ्केतिक वैदिक प्रणाली का एक उदाहरण है।

२. इन्द्र, यम, वरुण के यदि ईश्वर परक अर्थ लिये जांय तो प्राय: दिशाओं से कोई विशेष भौतिक सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि परमात्मा सब ओर एक रस व्यापक है। किसी दिशा विशेष में ही उसका कोई गुण विशेष वर्त्तमान नहीं। उदाहरणार्थ पूर्व दिशा में परमात्मा जिस प्रकार तेज युक्त है पश्चिम में भी उसी प्रकार है। अत: दिशाओं का सम्बन्ध भौतिक अथवा लौकिक अर्थों के साथ ही सार्थक होता है। ईश्वर-विषयक अर्थों से दिशाओं का कोई संपर्क सविशेष नहीं! केवल शब्दार्थ साम्यता और गुण-सादृश्य के कारण यत्किञ्चित् मात्र संयोग कहा जा सकता है अन्यथा नहीं। यथा मनसा परिक्रमा के मंत्रों में ६ दिशाओं में ६ विशेष गुण वाचक शब्द आये हैं। यदि इन गुणों से दैवी अर्थात् ईश्वरीय गुणों के अर्थ लिये जायें तो यह दिशाएँ लौकिक दिशा नहीं रहतीं, क्योंकि उस अवस्था में प्राची शब्द के अर्थ अपने सम्मुख की ओर हैं जैसे कि ऋषि दयानन्द ने कहा है।

अब कल्पना कीजिये कि यदि उपासक का मुंह उत्तर की ओर हुआ तो उत्तर ही प्राची दिशा होगई और दक्षिण प्रतीची होगई। किन्तु लौकिक व्यवहार में प्राची नाम तो पूर्व का है और प्रतीची पश्चिम को कहते हैं। परन्तु पूर्वोक्त दशा में चारों दिशाओं में से कोई सी ही प्राची हो सकती है। क्योंकि जिस ओर उपासक का मुंह हो वह ही प्राची जिस ओर पृष्ठ हो वही प्रतीची, दाहिने हाथ की ओर दक्षिण और बांयें हाथ की ओर उत्तर। अत: ज्ञात हुआ कि ईश्वर सम्बन्धी अर्थों में किसी लौकिक दिशा से कोई तात्पर्य नहीं। भाव यही है कि उपासक को अपने आगे, पीछे, दायें, बांयें, ऊपर, नीचे सब ओर परमात्मा व्यापक है यह चिन्तन करना चाहिये। कोई २ विद्वान् कहते हैं कि नहीं सन्ध्या करते समय मुख पूर्व की ही ओर होना चाहिये इस प्रकार अपने सामने प्राची दिशा होगी और फिर दिशाओं की संगति ठीक लग जायगी इत्यादि। इसके अतिरिक्त वे प्रात:काल सूर्य्याभिमुख होकर सन्ध्या करने का एक लाभ और दर्शाते हैं कि बाल-रवि की सद्योदित किरणों का हृदय पर स्वास्थ्यकर प्रभाव होता है किन्तु सायं संधिवेला में पूर्व की ओर मुख करने से कुछ लाभ है? इस विषय में उनकी कोई युक्ति नहीं। सारांश यह कि पूर्व कथित विद्वानों का यह विचार कुछ सारभूत नहीं क्योंकि ऋषि दयानन्द कहते हैं "सर्वासु दिक्षु

व्यापकमीश्वरं सन्ध्यायामग्न्यादिभिर्नामभिः प्रार्थयेत् । यत्र स्वस्य मुखं सा प्राचीदिक्" इसका भाव ऊपर स्पष्ट कर ही दिया है । वेद भगवान् भी इस कथन का प्रतिपादन करते हैं:—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः ।

यजु० अ० ३२ । ४ ॥

'वह परमेश्वर सब दिशाओं में परिपूर्ण है' । दूसरी बात इस विषय में यह है कि मनसा परिक्रमा के मन्त्रों में अग्नि का प्राची से, इन्द्र का दक्षिण से, वरुण का प्रतीची से, सोम का उदीची से साथ है । यदि यह दिशाएँ लौकिक समझी जांय तो यह सम्बन्ध सर्वदा एक सा रहता किन्तु ऐसा नहीं है । क्योंकि 'आघारावाज्याहुती' में 'ओ३म् अग्नये स्वाहा' इससे वेदी के उत्तर में 'ओ३म सोमाय स्वाहा' इससे दक्षिण में आहुति देना कहा है । अर्थात् यहां अग्नि का उत्तर से सोम का दक्षिण से साथ हुआ । और इन्हीं भूतबलि के मन्त्रों में इन्द्र का पूर्व से, यम का दक्षिण से, वरुण का पश्चिम से, और सोम का उत्तर से सम्बन्ध है । इस प्रकार ज्ञात हुआ कि ईश्वर-परक अर्थों का दिशाओं से कोई संसर्ग नहीं यदि है तो केवल भौतिक पदार्थों का ही है और यह उचित भी है क्योंकि ईश्वर का तेज, शान्ति, श्रेष्ठता कोई एक दिशा में तो है ही नहीं किन्तु सब ओर है ।

३. बलिवैश्वदेवयज्ञ करने के लिये गृह में व्यवस्था का होना आवश्यक है । प्रत्येक वस्तु का एक नियत स्थान होना

चाहिये तभी बलि का ठीक प्रकार से विभाग किया जा सकता है। जैसे उलूखल मूसल के लिये एक नियत स्थान, जल के घड़े के लिये एक निश्चित स्थान इत्यादि। यद्यपि बलि वास्तव में उन्हीं स्थानों पर नहीं रक्खे जाते तदपि व्यवस्था का होना उचित ही है।

अब पहले मन्त्र के दिशा-सम्बन्ध पर विचार करना है:—

"ओम् सानुगाय इन्द्राय नमः"। इससे पूर्व।

यहां देखना है कि इन्द्र और पूर्व दिशा का क्या सम्बन्ध है। अतः इन्द्र शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ देखकर यह समझना है कि उन अर्थों की पूर्व दिशा से संगति लगती है अथवा नहीं।

१. इन्द्र शब्द के अर्थ अग्रणी तथा उत्तम के हैं पूर्व भी सब से प्रथम (प्रमुख) तथा श्रेष्ठ को कहते हैं। जिस प्रकार परमात्मा सब मनुष्यों तथा पदार्थों से उत्कृष्टतम तथा आद्य है उसी भांति पूर्व दिशा सब दिशाओं में उत्तम तथा प्रथम है।

२. इन्द्र राजा को कहते हैं पूर्व दिशा भी सब दिशाओं में राजा है अर्थात् विशिष्टतया शासक है। क्योंकि पूर्व दिशा में सूर्य्य के होने के कारण ही अन्य दिशाओं का अस्तित्व है।

३. इन्द्र ऐश्वर्यदाता का नाम है, पूर्व दिशा भी ऐश्वर्य की देने वाली है। सब अन्न, फलफूल, चित्र विचित्र के रङ्ग, यहां तक कि संसार की शोभा ही पूर्व दिशा के सूर्य्य से ही है।

४. इन्द्र अन्नधारक या अन्न प्रेरक को कहते हैं पूर्व दिशा भी अन्न की धारक या प्रेरक है क्योंकि सूर्य्य द्वारा ही अन्न की उत्पत्ति होती है तथा वह पकता है ।

५. इन्द्र वनस्पति प्राप्त करने वाले को कहते हैं पूर्व दिशा ही सर्व वनस्पति के उत्पादन की कारणीभूता है ।

६. इन्द्र रूपों के प्रकाशकर्त्ता का नाम है । हम जो कुछ भी रङ्ग रूप देखते हैं पूर्व दिशा ही उसका निमित्त कारण है । अन्धकार में सब रूपों का लोप होजाता है ।

७. चन्द्रमा को देख कर प्रसन्न होने वाले की इन्द्र संज्ञा है पूर्व दिशा भी एक प्रकार से चन्द्र को अवलोकन करके प्रसन्न होती है । क्यों ? प्रथम तो इस कारण कि चन्द्र का वैभव सूर्य्यजात ही है । दूसरे यह सोच कर कि जब लोग कुछ समय अन्धकार में रहेंगे तो मेरे प्राण-नाथ भुवन-भास्कर का महत्व तथा उपयोग जानेंगे । क्योंकि किसी वस्तु के अन्तर्हित हो जाने पर ही उसकी वास्तविक गरिमा ज्ञात होती है । दुःख के पश्चात् सुख का स्वाद कुछ और ही हो जाता है । तीसरे यह जानकर कि दिनभर के थके हुवे प्राणी अब विधुवदना निशा में चन्द्र की सुशीतल ज्योति में विराम पावेंगे । यह अलङ्कारिक भाव है ।

८. इन शत्रून् द्रावयिता,—निरुक्त । शत्रु विनाशक को इन्द्र कहते हैं । जितने भी दुष्कृत्य किये जाते हैं सब अन्धकार

ही में होते हैं। चोर, लुटेरे, हत्याकारी सभी अपना दांव विशेषतया रात्रि ही में लगाते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मनुष्य के पंच महा शत्रु भी अपनी घात विशेष अन्धकार अर्थात् अज्ञान ही में लगाते हैं। हिंसक-जीव तमःप्रधाना निशा ही में आखेट करते हैं। अतः अन्धकार ही शत्रुओं का उत्पादक है। पूर्व दिशा ज्ञान की सूचिका है और अज्ञान को निवारण करती तथा अन्धकार का अपहरण करती है। एवं वह भी शत्रु-विनाशक है।

६. इस प्रकार इन्द्र और पूर्व दिशा का परस्पर संयोग है। इन्द्र सूर्य्य को भी कहते हैं उसका स्थान तो पूर्व दिशा है ही। पूर्व कथित संबन्ध की कवीन्द्र-रवीन्द्र की निम्नलिखित कविता के एकांश के भाव से तुलना कीजिये:—

हे विश्वदेव ! दिये दिखाई आज तुम किस वेष में।
देखा तुम्हें प्राची-गगन में, पुण्य-पूर्ण स्वदेश में॥
आलोक से उज्ज्वल तुम्हारा नील-नभ ही भाल है।
निस्तब्ध आशिष-सा अभय-कर कर हिमाद्रि विशाल है॥
हमने सुना स्तव-मंत्र तव गत तपो विपिनों में अहा।
मथकर अमर ऋषि हृदय को जग में ध्वनित है हो रहा॥
रवि रूप में प्रातः समय हे देव ! उदयाकाश में।
तुम दीखते हो जब ग्रथित कर मुख सुवर्ण प्रकाश में॥

प्राचीन नीरव-कण्ठ से उस समय गायत्री कथा।
उठती हुई सुनते यहां बन विहँग-रव मय सर्वथा ॥
हे देव! है हमने सुना बाहर खड़े होकर अहा।
तव गान भारत-वर्ष में जाने न कब से हो रहा ॥

(सरस्वती)

मन्त्र दूसरा:-

ओं सानुगाय यमाय नमः—इस से दक्षिण।

** यम और दक्षिण का सम्बन्ध **

१. दक्षिण दिशा सीधे सच्चे मार्ग को कहते हैं इसी प्रकार यम नियमित तथा सच्चा योग साधन का मार्ग है जिससे परमार्थ प्राप्ति होती है।

२. यम न्यायाधीश को कहते हैं न्यायाधीश किसी का पक्ष न लेते हुये उदासीन होते हैं। वे न्याय [illegible]ने समय विषय की (bright and dark side) अर्थात् पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों के मध्यस्थ होते हैं। [illegible] प्रकार दक्षिण दिशा तेज और अन्धकार अथवा [illegible] या पश्चिम की मध्यवर्तिनी है तथा बीच में उदासीन वृ[illegible] धारण किये है।

३. यम, नियंता, या जो कार्य्य को साध[illegible] उसका नाम है जिस प्रकार दक्षिण अर्थात् दांया [illegible] कार्य्यों का साधक है। दक्षिण हाथ की ओर को दक्षिण दिशा कहते हैं यदि मनुष्य सूर्याभिमुख हो।

४. यम के अर्थ सारथी हैं जिसको संस्कृत में दक्षिणास्थ कहते हैं अर्थात् दक्षिण की ओर अथवा दाहिने हाथ पर बैठने वाला इससे भी इन दोनों शब्दों का सम्बन्ध स्पष्ट है।

तीसरा मन्त्र:—

ओ३म् सानुगाय वरुणाय नमः—इस से पश्चिम

(वरुण तथा पश्चिम का सम्बन्ध)

१. पश्चिम दिशा शान्ति करने तथा केन्द्र स्थान पर लाने की सूचक है। भानु नक्षत्र तथा चन्द्रादि घूम फिर कर इसी ओर अस्त होते हैं। वरुण शब्द भी श्रेष्ठता स्वीकार, दुर्गुण परिहार तथा शान्ति-प्रसार का प्रतिनिधि है। ऐसा करने से मनुष्य निज मूलस्थान मनुष्यत्व पर आ जाता है।

२. वरुण धार्मिक भक्तों की संज्ञा है जोकि तेजस्वरूप परमात्मा के अनुगामी होते हैं इसी प्रकार पश्चिम दिशा भी पूर्वानुगामिनी है।

३. वरुण मेघ को कहते हैं जिसका धर्म वर्षा करना है और जो झूम झूम कर आकाश को ढांकते हुये अन्धकार कर देते हैं। इसी प्रकार पश्चिम दिशा तमः प्रधान है। इस दिशा को वारुणी कहते हैं जिसका अर्थ मदिरा भी है। मदिरा मनुष्य को तमोगुणी बनाता है। सुरा मद में झूमने का भाव है ही। इसके अतिरिक्त रात्रि होने की यही दिशा कारण है जिसमें कि निद्रा-पराभूत होकर

मनुष्य झूमता हुआ आलस्यगत हो जाता है अथवा अचेत होता है। वर्षा से इस दिशा का किञ्चित् संयोग है क्योंकि वर्षा वाष्प-वाहिनी-वात (Monsoon) अधिकतर पश्चिमी समुद्रों से उठती है। यह वरुण तथा वारुणी (पश्चिम) का सम्बन्ध है।

चौथा मंत्रः—

ओं सानुगाय सोमाय नमः—इस से उत्तर।

सोम तथा उत्तर का सम्बन्धः—

१. मुख्य या प्रधान को सोम कहते हैं उत्तर के अर्थ भी मुख्य अथवा प्रधान के हैं।

२. तेजस्वी का नाम सोम है उत्तर भी तेज प्रधान दिशा है।

३. उमा अर्थात् संरक्षण या समाधान आदि जिसमें प्राप्त होना है उस विद्या के ज्ञाता को सोम कहते हैं। उत्तर दिशा भी उमा विद्या के सहित होने से सोम है क्योंकि पहले तो ध्रुव (नक्षत्र) के इस दिशा में होने से नाविक तथा समुद्रों में चलने वालों का समाधान होता है तथा भटकने से उनका त्राण होता है, दूसरे उत्तर तथा दक्षिण ध्रुव की आकर्षण शक्ति समान होने से ही भूमण्डल स्थिर रहता है।

पांचवां मन्त्रः—

५. ओम् मरुद्भ्यो नमः—इससे द्वार।

मरुत् के अर्थ तेज, वायु, ज्ञान, वेग से चलने वाले, प्राण तथा मितभाषी द्वारपाल के होते हैं।

मरुत और द्वार का सम्बन्धः—

१. वायु और तेज के आगमन का द्वार द्वार ही है इससे उनका सम्बन्ध स्पष्ट है—वेद में गृह का एक विशेषण '*विश्व वाराया*' शब्द आया है जिसके अर्थ हैं कि घर के द्वार चारों ओर से वायु को स्वीकार करने वाले हों। पुनः शुद्ध वायु की उपयोगिता वेद भगवान् इस प्रकार दर्शाते हैं:—

वात आवातु भेषजं शम्भुर्मयोभुवो हृदे ।
प्राण आयूंषि तारिषत् ॥ —ऋग्वेद ।

'वायु रोगनाशक औषध को लाता है, वह वायु शान्ति देने वाला और हृदय की प्रसन्नता और निरोगता करने वाला है। हम सब की आयु को वह वायु दीर्घ बनाता है'।

२. द्वारपालों का तो द्वार से सम्बन्ध है ही। परन्तु यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि प्रत्येक का द्वार से आना भी अच्छा नहीं अतः द्वार की दुष्टों के प्रवेश से रक्षा करने का भी भाव झलकता है। विशेषकर अपने देश के जो द्वार हों अर्थात् नौकाश्रय (Seaports) तथा गिरिरन्ध्र (Passes) और अन्य मार्गों की जिससे कोई प्रवेश कर सके द्वारपालों द्वारा अर्थात् दुर्ग बना कर तथा सैनिक नियुक्त करके शत्रु और आक्रमण-कारियों से रक्षा करनी चाहिये।

३. मुनि या अतिथियों का आगमन भी द्वार से ही होता है। अतः द्वार की ओर बलि रखने का भाव यह कि द्वार में

से आने वाले वायु और तेज की अग्निहोत्र द्वारा शुद्धि करना और मुनि तथा द्वारपालों को भोजन देना यह प्रत्येक का कर्त्तव्य है।

छठा मन्त्रः—

ओम् अद्भ्यो नमः—इस से जल।

१. कूप, तड़ाग, सरिता इत्यादि के जल से और घड़े के जल से तो सम्बन्ध है ही। क्योंकि इन्हीं स्थानों से घड़ों में जल भरा जाता है यदि मनुष्य उनकी शुद्धि करना तथा कराना अपना कर्त्तव्य समझेंगे तो उन्हें पीने के लिये भी स्वच्छ और निर्मल जल मिलेगा जिसकी प्रशंसा वेद में बारम्बार की गई है यथाः—

इदमापः प्रवहत यत्किञ्च दुरितं मयि। ऋग्वेद १०। ६।

'इस जल से मेरे शरीर के दोष दूर हो जांय।' इसके अतिरिक्त वेद के स्थलों में स्वच्छ जल के औषधि होने के विषय में बहुत वर्णन है।

२. आकाश के समान स्वच्छ तथा निर्मल जल ही होता है। आपः के अर्थ आकाश के हैं। बलि रखते हुये यह चिन्तन करना योग्य है कि आकाश तथा जल को तो हम शुद्ध रक्खेंगे ही परन्तु अपना जीवन भी उन्हीं के समान स्वच्छ और निर्मल बनावेंगे। वेद में ऐसी धारणा की शिक्षा बहुत हैं:—

आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु । उदिदाभ्यः शुचिरापूत एमि।

ऋ० १०-१७-१० यजु० ४-२ ।

'जल हम सबको पवित्र बनावे जल से मैं शुद्ध और पवित्र बनूँगा।' परमात्मा से जल के समान शुद्ध और पवित्र बनने की प्रार्थना करनी चाहिये । इस विषय में निम्नलिखित कविता दर्शनीय है:—

सुजीवन ।

हे जीवन-स्वामी ! तुम हमको जल के सदृश सुजीवन दो ।
हमें सदा जल के समान ही स्वच्छ और निर्मल मन दो ॥

रहें सदा हम क्यों न अतल में ।
किन्तु दूसरों के हित पल में ॥
आवें अचल फोड़ स्थल में ।
ऐसा शक्ति-पूर्ण तन दो ॥ हे जीवन-स्वामी०
स्थान न क्यों नीचे ही पावें ।
पर तप से ऊपर चढ़ जावें ॥
गिर कर भी क्षिति को सरसावें ।
ऐसा सत्साहस धन दो ॥

हे जीवन-स्वामी ! तुम हमको जल के सदृश सुजीवन दो ।

(सिया रामशरण गुप्त),

सातवां मन्त्र—

७· ओम् वनस्पतिभ्यो नमः—इस से मूसलोखल ।

* वनस्पति तथा मूसलोखल का सम्बन्ध *

वनस्पति अर्थात् पेड़ के तने या डाल से जिससे मूसल बनता है उसका सम्बन्ध अवश्य है ही, इस बलि के देने का आशय यही है कि वनस्पति, फल-फूल, अन्न आदि की उपज को उत्तम बनाना तथा उसकी और खाने को योग्य बनाने के उपकरणों की रक्षा करना प्रत्येक का धर्म है। भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है जहां वनस्पति का महत्व अधिक है और अन्न को कूट-काट कर भोजन के योग्य बनाने के साधन ऊखल मूसल ही हैं।

शेष मंत्रों का भिन्न वस्तुओं से तथा दिशाओं अथवा स्थान से जो जो सम्बन्ध है उसका यथेष्ट वर्णन हो चुका है उनके अधिक स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। विचारशील पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं।

उपसंहार

इस प्रकार से यह एक वैदिक-यज्ञ अर्थात् शुभ कर्म्म की व्याख्या पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत की गई है। जिसमें ऐसे अनेक रत्न भरे पड़े हों उस रत्नाकर को यदि कोई किसी काम का न कहे तो उसे क्या उपाधि मिलनी चाहिये यह पाठक स्वयं विचार सकते हैं। परन्तु अब समय का फेर है। चहुँ ओर नूतनता का घेर है। पुराना प्रलाप अरण्य की टेर है। गुण-ग्राहक डाल डाल तो निन्दक पात पात हैं। परन्तु इससे क्या—

'ठोकरों से वायु की गिरिराज क्या हिल जायगा' ?

सच सच ही है। उसे कोई मेट नहीं सकता। वास्तव में तो—

गुण न हिरानो गुणगाहक हिरानो है।

सूर्य्य के प्रकाश को कोई कहां तक ढांकेगा। जल के तैलबिन्दु जितना निकालने का प्रयत्न कीजियेगा उतना ही वह और विस्तृत होता चला जायगा। सत्य-ज्ञान की अग्नि को अज्ञान के कूड़े कर्कट से जितना दबाइयेगा उतनी ही

वह और प्रज्वलित होगी। यह बात दूसरी है कि इस समय उसका तेज शिथिल है, प्रकाश मन्द है परन्तु—

विपद ज्वाला से झुलस कर छवि निहत जो हो रही।
वह लता 'विकसित' कभी फिर क्या न होगी लहलही ?

हां क्यों न होगी। कभी हमारा सौभाग्य-प्रभाकर फिर उदय होगा। चकित दृष्टि से विश्व उसे देखेगा। अन्धकार में जहां तहां चमकने वाले खद्योत तथा नक्षत्र अपना मुंह छिपा लेंगे। तब ही हमारे सुखमय जीवन का प्रभात होगा।

किन्तु, अभी नहीं। अभी विलम्ब है। संसार नव-कल्पित-सृष्टि के पीछे वेग से दौड़ रहा है। पूर्व की प्रभा को छोड़ पश्चिम में उसे खोज रहा है। कस्तूरी मृग की भांति शान्ति तो नाभि में विराजती है। पर उसे जगत् में ढूँढता फिरता है। हां वहां शान्ति है। बस वही सुख का द्वार है। सोचता है, पर ज्योंही वहां पहुंचा देखा सब भ्रम था, कल्पना थी मरीचिका थी। फिर भटकता है। अश्वत्थामा के समान नई सभ्यता का तण्डुल-मिश्रित श्वेत-जल दुग्ध समझ कर पी लेता है परन्तु तृप्ति नहीं होती हृदय की दाह नहीं मिटती। मिटे कहां से—

पद्म विकसित चन्द्र को रवि समझ क्या खिल जायगा।

चन्द्रमा को सूर्य्य समझ कर कमल नहीं खिलता। पश्चिम के चित्र-विचित्राडम्बर पर क्यों फूलते हो। वह क्षणिक है। तत्पश्चात् घोर अन्धकार है। मर्य्यादा से उसका मान करो।

अबोध न बनो। पूर्वपथ प्रदर्शिनी ऊषा को अवलोकन करो जो कि अमर-गुण-रत्नों की मंजूषा है। वही सत्य सुख-सम्पुट की अधिकारिणी है। यदि सुख पाओगे, शान्ति अपनाओगे तो यहीं के ज्ञान से जहां की मृत्तिका से तुम्हारा नश्वर शरीर बना है। घर में ही खोजो, यहीं शान्ति मिलेगी। सच्चे ज्ञान के तो भण्डारी तुम ही हो। भण्डार जिससे अविच्छिन्न शान्ति का स्रोत प्रवाहित है।

पर इसमें तुम्हारा कुछ दोष नहीं। सत्य है समय के सामर्थ्य-शाली प्रवाह में तुम भी बरबस बह गये। परिवर्तनशील संसार के साथ तुम भी कुछ और से और हो गये। परन्तु अभी अवसर नहीं चूका, उठो! चैतन्य हो, "बीती ताहि बिसार दे आगे की सुध लेय" यही नियम है। बिगड़ी बनाओ, अभी सब कुछ तुम्हारे ही हाथ है। इस पुण्य-पारस की परख पारखी बन कर करो।

अतः बस यदि सच्ची उन्नति, सच्ची शान्ति तथा सच्चा कल्याण चाहते हो तो वैदिक-धर्म की शरण लो। परमपिता के सुपुत्र बनो, नहीं तो फिर याद करोगे कि कोई कहता था:—

कर्त्तव्य, ईश्वर-भक्ति ही वैदिक-नदी के कूल हैं।
मञ्जुल, मनोरम-मुक्ति-तरु की यह मनोहर-मूल हैं॥

(मराल)

॥ समाप्तम् ॥

ओ३म्

आर्य्य-संघ की अन्य पुस्तकें

[१] भारत-जननी को हिमालय से सन्देश—

यह पुस्तक योगिराज *श्रीयुत अरविन्द घोष* के शिष्य प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक—*श्रीयुत पाल रिचार्ड महोदय* की To India; Message from the Himalayas का अनुवाद है। दिव्य-भू (Divine land) आर्य्यावर्त्त के उज्ज्वल भविष्य तथा आर्येयी (Asia) के भावी संगठन सम्बन्धी सद्भावोंयुक्त यह पुस्तक हिन्दी-संसार में अवश्य मान्य होगी। २०"×३०" : ३२ पौण्ड सुन्दर बढ़िया कागज़ पर छपी ३२ पृ० की पुस्तक का मूल्य केवल ≡) आने।

[२] अग्निहोत्र विधिः—नित्य सायं प्रातः अग्निहोत्र करने की वैदिक-विधि। आर्ष विधि-वाक्यादि से युक्त विशेष-तया सम्पादित। २०"×३०" : २० पौ० १६ पृ० की पुस्तक का मूल्य केवल)॥ पैसे। प्रचारार्थ इकट्ठा खरीदने वालों को २) रु० सैंकड़ा।

भविष्य में छपने वाली पुस्तक।

उद्बोधन—दिव्य भावों युक्त हिन्दी-संसार तथा आर्य्य-संसार में विशेष पुस्तक होगी। लेखन-शैली की दृष्टि से तो सम्भवतः हिन्दी साहित्य में अद्वितीय ही होगी।

मन्त्री—आर्य्य संघ,

मेरठ सदर (यू० पी०)

